विवेक-ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

विवेकानन्द आश्रम

रायपुर

'मध्यप्रदेश शिक्षा विभाग के आदेश क्रमांक स। विधा। टा। ५६४'
दिनांक ४ मार्च १९६४ द्वारा स्वीकृत"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित
हिन्दी त्रैमासिक

जुलाई - सितम्बर १९६५

प्रधान सम्पादक
स्वामी आत्मानन्द,

सह - सम्पादक
सन्तोषकुमार झा, रामेश्वरनन्द

विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर (मध्य प्रदेश)
फोन नम्बर, १०४६

अनुक्रमणिका

कव्हर चित्र परिचय —

स्वामी विवेकानन्द (वाराह नगर, कलकत्ता, मार्च १८९७ ई०)

“न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते”

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण - विवेकानन्द - भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ३] जुलाई - १९६५ - सितम्बर [अंक ३

वार्षिक शुल्क ४) -*- एक प्रति का १)

मोक्षप्राप्ति का उपाय

मोक्षस्य कांक्षा यदि वै तवास्ति
त्यजातिदूरात् विषयान्विषं यथा ।
पीयूषवत् तोष-दया-क्षमार्जव
प्रशान्तिदान्तीर्भज नित्यमादरात् ॥

—यदि तुममें मोक्ष पाने की अभिलाषा है, तो तुम विषयभोगों को दूर से जहर के समान त्याग दो और सदैव आग्रहपूर्वक सन्तोष, दया, क्षमा, निष्कपटता, शान्ति और आत्मसंयम आदि अमृततुल्य गुणों के सम्पादन में लगे रहो ।

—विवेक चूड़ामणि, ८२ ।

रामजी की इच्छा

किसी गाँव में एक जुलाहा रहता था। वह बड़ी धार्मिक प्रवृत्ति का था। सभी उस पर विश्वास करते थे। वह सबका स्नेह भाजन बन गया था। वह घर पर कपड़ा बुनता और हाट-बाजार जाकर कपड़े बेच आता। यही उसकी आजीविका थी। जब ग्राहक उससे कपड़ों का दाम पूछते, तो वह इस प्रकार का उत्तर देता—रामजी की इच्छा से सूत का दाम १) लगा है, रामजी की इच्छा से मेहनताना चार आने हुआ, रामजी की इच्छा से मुनाफा दो आने; इस प्रकार रामजी की इच्छा से कपड़े का दाम एक रुपया छः आने। उसकी ईमानदारी पर लोगों का इतना भरोसा था कि वे तुरन्त उसका कहा हुआ दाम देकर कपड़ा खरीद लेते। जुलाहा देवी का परम भक्त था। वह रात में ब्यालू करने के बाद देवी मण्डप में चला जाता और काफी देर तक ईश्वर-चिन्तन और भजन-कीर्तन करता रहता।

एक दिन की बात है। रात काफी बीत चुकी थी। जुलाहे को उस दिन नींद नहीं आ रही थी। वह ईश्वर-चिन्तन में मग्न हुआ मण्डप में बैठा था। इतने में उसी रास्ते से डाकुओं का एक दल निकला। वे डाका डालने जा रहे थे। उनके दल में बोझा ढोने वाले की कमी थी। अतः डाकुओं में से एक जुलाहे के पास आकर बोला, 'चल,

हम लोगों के साथ', और ऐसा कहकर वह जुलाहे का हाथ पकड़ कर ले गया। उन लोगों ने एक घर में डाका डाला और डाके का कुछ माल जुलाहे के सिर पर रख दिया और उसे अपने साथ-साथ आने का आदेश दिया। इस बीच हो-हल्ला मचने से पुलिस आ गई। डाकू प्राण लेकर इधर-उधर भागे, पर बेचारा जुलाहा अपने सिर पर पोटली रखे पकड़ा गया। पुलिस उसे पकड़ कर ले गई और रात भर थाने में रखा। दूसरे दिन मजिस्ट्रेट के सामने उसे पेश किया गया। जब गाँव के लोगों को यह घटना मालूम पड़ी तो सब के सब आकर अदालत में हाजिर हो गये। सबने एक स्वर से मज़िस्ट्रेट से कहा, 'हुजूर ! यह जुलाहा कभी डाका नहीं डाल सकता।' तब साहब ने जुलाहे से पूछा, 'क्यों जी, तुम अपनी बात पूरी बताओ'। इस पर जुलाहा उत्तर देता हुआ बोला, 'हुज़ूर ! रामजी की इच्छा से मैंने रात में भात खाया ! फिर रामजी की इच्छा से मैं देवीमण्डप में चला गया और वहीं बैठा रहा। रामजी की इच्छा से बहुत रात हो गई। रामजी की इच्छा से मैं भगवच्चिन्तन कर रहा था और रामजी की इच्छा से भजन-कीर्तन में मेरा मन लग गया था। उसी समय रामजी की इच्छा से डाकुओं का एक दल सामने से निकला। रामजी की इच्छा से वे मुझे पकड़ कर ले गये। रामजी की इच्छा से उन्होंने एक घर में डाका डाला। रामजी की इच्छा से उन्होंने एक पोटली मेरे सिर पर रख दी। ऐसे समय, रामजी की इच्छा से, पुलिस आ गई।

रामजी की इच्छा से मैं पकड़ा गया। तब रामजी की इच्छा से पुलिस वाले मुझे थाने ले गये और हवालात में बन्द कर दिया। आज सुबह रामजी की इच्छा से मैं हुजूर के सामने पेश किया गया हूँ।'

साहब ने देखा कि जुलाहा बड़ा धार्मिक है। उन्होंने उसको छोड़ देने का हुक्म दिया। जुलाहा अपने साथियों के साथ गाँव लौटते हुए कहने लगा, 'रामजी की इच्छा से मुझे छोड़ दिया गया'।

तात्पर्य यह कि मनुष्य को अपने सारे कर्म इसी समर्पण-भाव से करना चाहिए। सब कुछ प्रभु के चरणों में समर्पित करो। फिर कोई गड़बड़ी न होगी। तब देखोगे कि वे ही सब कुछ-कर रहे हैं—सब रामजी की ही इच्छा है।

हितहू की कहिये नहीं, जो नर होय अबोध।
ज्यों नकटे को आरसी, होत दिखाये क्रोध॥

—वृन्द

मृत्यु पर विजय

ब्रह्मलीन स्वामी ज्ञानेश्वरानन्दजी महाराज, रामकृष्ण मिशन

मृत्यु का नाम सुनते ही हम कैसे भयभीत हो जाते हैं ! एक दिन हमें भी इस मृत्यु के दुर्निवार पाश में बँधना होगा-यह विचार ही हममें कैसी सिहरन और कँपकँपी पैदा कर देता है ! पर खेद है कि जो घटना अपरिहार्य है, ध्रुव है, उसके सम्बन्ध में हम कितना अल्प ज्ञान रखते हैं। कदाचित् हमारा यह अल्प ज्ञान ही हमें भयभीत बनाता है, इसी से हम मृत्यु को शत्रु के रूप में देखते हैं और इस विचार से सिहरते रहते है कि न जाने कब और कैसे यह अजाना दैत्य हम पर पीछे से आक्रमण कर देगा। हम कभी कभी सोचते हैं कि इस मृत्यु सम्बन्धी विचार को टाल देने से हम सुरक्षित रह सकेंगे, पर प्रकृति की लीला विचित्र है, वह कुछ अन्य ही तय करके रखती है। जीवन की शृंखला में हम जिस स्थान पर कुछ अपूर्णता छोड़ जाते हैं, दुर्भाग्य से वही सबसे कमजोर कड़ी साबित होती है। अतः टालने के तरीके से किसी चीज पर विजय नहीं पायी जा सकती। सबसे उत्तम उपाय तो तथ्य को जान लेना है—भले वह सुखद हो या दुखद। ज्ञान से बल प्राप्त होता है; अज्ञान भय को जन्म देता है। अतः यह अपने ही लाभ की बात है कि हम इस मृत्यु की घटना के सम्बन्ध में अधिक से अधिक तथ्य जान लें।

विचारशील लोग ऐसा सोचकर मृत्यु से नहीं घबड़ाते कि वह भौतिक उपकरण यानी इस शरीर को नष्ट कर देती है; वास्तव में वे मृत्यु की ढकने की शक्ति से भ्रमित होते हैं। यदि कुहरे से रास्ता ढक जाय और एंजिन काम करना बन्द कर दे तो अच्छे से अच्छा ड्राइवर भी एक बार अकचका जायेगा। मान लो, तुम्हें जीवन की प्रेरणा और संतोष ज्ञान के अर्जन से मिलता है। यदि किसी कारणवश तुम्हारे जीवन की प्रेरणा का यह स्रोत बन्द हो जाय, तो क्या तुम्हें यह भौतिक मृत्यु की अपेक्षा भी बदतर न लगेगा? मान लो, तुम सत्यान्वेषी हो और तुम्हें उस परम सत्य की झलक मिली है जो घट घट में समाया हुआ है। अब कुछ ऐसा हो गया कि तुम्हें उस सत्य की विस्मृति हो जाती है। तो क्या यह तुम्हारे लिएमृत्यु की भी अपेक्षा अधिक पीड़ादायी न होगा? अथवा, समझो कि तुम उच्च पद और मान-प्रतिष्ठा वाले व्यक्ति हो। पद-प्रतिष्ठा ही तुम्हारे लिए सब कुछ है। यदि किसी कारणवश तुम्हारी मान-प्रतिष्ठा चली जाय, तो क्या वह मृत्यु से भी भयंकर बात न होगी? नैतिक, बौद्धिक अथवा आध्यात्मिक मृत्यु के सामने भौतिक मृत्यु कुछ भी नहीं है। कम से कम मैं तो प्रथम तीन प्रकार की मृत्यु के विरोध में सतत संघर्ष करता रहूँगा। और भौतिक मृत्यु?—वह तो अपरिहार्य रूप से जीवन में एक बार आनेही वाली है। उसे कोई रोक नहीं सकता। पर हमने हर दिन आनेवाली मृत्यु के प्रतिकार का कौनसा उपाय खोजा है? यदि मृत्यु पर

विजय प्राप्त करने का कोई हथियार मैं खोज निकालना चाहूँ, तो मैं अपनी सारी शक्तियों को उन मृत्युपाशों को काटने में लगा दूँगा, जो कदम कदम पर हमें बाँध लेना चाहते हैं। हम सबसे मूलभूत सत्य को क्यों बिसरा देते हैं? हम किस कारणवश यह भूल जाते हैं कि वह एक परमात्मा ही अनेक रूपों में अभिव्यक्त हुआ है? हम क्यों उस परमात्मा को देखने के बदले केवल भोग के विषयों को देख पाते हैं और इस प्रकार हर कदम के साथ जड़ के प्रति अपनी गुलामी की जंजीर को खींचते जाते हैं? ऐसे अस्तित्व में जीवन का कोई स्पन्दन नहीं है। और जहाँ जीवन का स्पन्दन नहीं, वहाँ मृत्यु का भी भला क्या अर्थ है? अतः पहले हम जीवन प्राप्त करें, तभी हम सदैव और शाश्वत काल तक के लिए जीवित रहने की इच्छा कर सकते हैं, जिससे हम सत्याधारित जीवन के आनन्द को पहचान सकें और उसकी अनुभूति कर सकें। यदि अस्तित्व का कुल योग अपने लिए गुलामी और दूसरों के लिए रोना-विलपना हो, तो ऐसे अस्तित्व में ऐसी कौन-सी चीज है जिसको हम चिरकाल तक पकड़ रखने को उत्सुक हों?

मानव प्रतिदिन आत्महत्या कर रहा है और देवी-देवताओं से रो-रोकर कहता है कि वह मृत्यु से बच जाये। जब कोई व्यक्ति किसी से ईर्ष्या या विद्वेष करता है तो वह अपने ही आप का गला घोंट लेता है। जब मनुष्य अपने क्षुद्र अहं को फुलाता है और यश, मान या प्रतिष्ठा

की याचना करता है, तो मैं उसे उसके उन्नतर व्यक्तित्व की हत्या मानता हूँ। यह प्रकृत आत्मा, सत्‌चित्‌ और आनन्द का निधान यह सर्वव्यापक आत्मा भिखारी के समान थोड़े से यश और मान की याचना करे! कैसी शर्मनाक बात है! मैं उसे भ्रूण का अविकसित अवस्था से अपने आपको मुक्त कर लेने का संघर्ष कहता हूं। वह तो अभी जन्मा ही नहीं है, फिर मरेगा कैसे? जो विचारशील व्यक्ति है उसे चाहिए की वह पहले इस पर मनोयोग करे कि उसे यथार्थ जीवन कैसे मिले और तत्पश्चात् उन मृत्यु-घड़ियों से बचने का उपाय हस्तगत् करे, जो उसके जीवन में प्रतिक्षण आती रहती हैं। हममें से भला कितने लोग ऐसी मृत्युघड़ियों से त्राण पाने का उपाय खोजते हैं? क्या हम सचमुच ऐसे मरणों से बचने के लिए उतने ही तत्पर हैं जितने कि भौतिक मृत्यु से बचने के लिए? क्या सचमुच हम अपनी प्रकृत आत्मा को खो देने का उतना ही भय करते हैं जितना कि इस खोटी आत्मा को खो देने का? हम ऐसा नहीं करते और मैं आपसे कहूँ कि यही मृत्यु का लक्षण है। मृत्यु एक ऐसी अवस्था है जो हमारी असल सम्पत्ति को छीन लेती है। भला और किसने हमारी असल सम्पत्ति को उस हद तक छीना है जितना कि सत्य की विस्मृति ने? हम पहले इससे अपनी रक्षा करें और वह भौतिक मृत्यु, जिससे हम इतना डरा करते हैं, अपने ही आप दूर हो जायेगी। हमें इस भौतिक मृत्यु को जीतने के लिए कोई विशेष उपाय नहीं करना पड़ता।

भौतिक मृत्यु सम्बन्धी हमारी धारणा क्या है? जब फुफ्फुस काम करना बन्द कर देते हैं, जब धमनियों में से रक्त का बहना रुक जाता है और फलस्वरूप जब इन्द्रियाँ कोई उत्तेजना नहीं ग्रहण कर पातीं, तब हम प्राणी को 'मर गया' ऐसा कहते हैं। शरीर के अंगों के ये व्यापार क्यों इस तरह रुक जाते हैं? वह कौन सा घटक है जिसकी अनुपस्थिति से मृत्यु घटती है। वह घटक क्या एक ऐसा यौगिक पदार्थ है, जो इन अंगों और इनके व्यापारों के परस्पर संयुक्त होने से उत्पन्न हुआ था? अथवा कि वह एक अयौगिक पदार्थ है? जीवनीशक्ति यौगिक नहीं हो सकती; क्योंकि जिन उपादानों से वह बनी मानी जाती है, वे सारे उपादान मृत्यु के समय वैसे ही बने रहते हैं। भेजा उसी प्रकार बना रहता है, रक्त बना रहता है, फुफ्फुस वैसे ही रहते हैं। संक्षेप में, प्रत्येक उपादान विद्यमान रहता है, पर एक ऐसा कुछ गायब हो गया रहता है जिसके कारण कोई भी अंग कार्य नहीं करता। वह गायब हो जानेवाला 'कुछ' क्या है? मृत्यु के समय जो उपादान विद्यमान रहते हैं उनकी किसी रासायनिक अथवा आणविक क्रिया के द्वारा जोवन नहीं उत्पन्न हो सकता, इतना तो निश्चित है। क्योंकि, जब तुम कुछ ऐसी चीज को गायब हुआ पाते हो जो अपनी उपस्थिति से सारे उपादानों को प्राणवान् बना रही थी, तो तुम यह कैसे कह सकते हो कि वह गायब होने वाली 'कुछ' उन उपादानों के संयोगस्वरूप उत्पन्न हुई थी, जो अभी भी मौजूद हैं? यहाँ यह जोवित पौधा है जिसमें

नाल है, शाखाएँ हैं, कोपलें हैं, फूल हैं। यदि यह कहो कि उसकी जीवनीशक्ति इस नाल, शाखाओं, कोपलों और फूलों के संयोग से उत्पन्न हुई है, तो अपने इन विभिन्न अवयवों के विद्यमान रहते वह मर कैसे सकता है? यदि समझा जाय कि अ-ब-स के संयोग से 'क' उत्पन्न हुआ है, तो ऐसा कोई अनुमान नहीं निकाला जा सकता कि अ-ब-स के उसी प्रकार विद्यमान रहते 'क' गायब हो सकता है। निष्कर्ष यह है कि जीवनीशक्ति रासायनिक या अन्य कोई यौगिक पदार्थ नहीं हो सकती। वह एक अयौगिक (मौलिक) पदार्थ है और शरीर के विभिन्न उपादानों से पूर्णतः निरपेक्ष है। जब यही तर्कशुद्ध निष्कर्ष हमें प्राप्त हुआ, तब ऐसा कौन सा सिद्धान्त हमारे पास है जिसके बल पर हम कह सकें कि शरीर के नाश के साथ ही जीवनीशक्ति नष्ट हो जाती है? वास्तव में वह निरपेक्ष जीवनीशक्ति, जिसे व्यक्ति के सन्दर्भ में हम 'प्राण' कहकर पुकारते हैं, शरीर के विभिन्न अंगों को व्यवस्थित रखती है और उनका संचालन करती है। मृत्यु के समय वह शरीर को त्यागकर अपने मनचाहे रास्ते से प्रवाहित होती है। परित्यक्त शरीर से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। वह तो केवल शरीर है जिसका अपचय होता है, नाश होता है। जब तक हम जीवन को पूरी तरह नहीं समझते तब तक मृत्यु को समझना सम्भव नहीं। तुम पूछते हो, "वह क्या है जो मृत्यु के समय हमें छोड़ जाता है?" मैं प्रश्न को उलट देता हूँ, "वह क्या है जो इस शरीर में रहता है; वह क्या है जो

जीवन को नियंत्रित और परिचालित करता है, जो जीवन का उपोभग करता है?" वह क्या शरीर के समस्त घटकों और उपादानों का योगस्वरूप है, अथवा वह ऐसा कुछ है जो शरीर और उसकी विभिन्न क्रियाओं को लाँघ जाता है? हमारा प्रत्यक्ष अनुभव क्या कहता है? क्या तुम ऐसा अनुभव करते हो कि तुम भिन्न भिन्न अवयवों और प्रक्रियाओं के समवाय हो, अथवा यह कि एक स्वतन्त्र, निरपेक्ष कर्ता के रूप में तुम इन अवयवों और प्रक्रियाओं के स्वामी हो? क्या ऐसा नहीं कहते कि "मेरे हाथ हैं, मस्तिष्क है, हृदय है, आवेग और भावनाएँ हैं, अन्य शक्तियाँ हैं?" यह कैसे सम्भव हो सकता है कि तुम्हारी 'अहं' की चेतना तुम्हारे विभिन्न अंगों और उनकी शक्तियों का समवाय हो, जब तुम पग पग पर यह अनुभव करते हो कि तुम यौगिक पदार्थ नहीं हो, और ये घटक और अपादान तुम्हारे हैं? जब तुम अपने प्रत्येक विचार और कार्य के माध्यम से अपनी आत्मा के स्वतंत्र और निरपेक्ष स्वरूप की धारणा कर लोगे, तो मृत्यु को समझने में सक्षम हो सकोगे। बिना जीवन को समझे, मृत्यु को समझना सम्भव नहीं है। जीवन हमारे सामने वर्तमान है, वह एक दृश्य और स्थूल घटना है। यदि हम उसे न समझ सकें जो समीप और स्पष्ट है, तो उसके अदृश्य होने की घटना को समझने की आशा हम कैसे कर सकते है?

इस शरीर की उपमा एक औजार-पेटी से दी जा सकती है, जिसमें जीवात्मा ने अपने लाभ, कल्याण और

उन्नति के लिए औजारों का एक पूरा सेट संचय करके रखा है। आत्मा इस औजार - पेटी का अंग नहीं है। तुम सदैव ऐसा अनुभव करते हो कि तुम अपनी क्रियाओं और अनुभवों से पृथक् और भिन्न हो। जब तुम कोई भाषण सुनते हो, उस समय ऐसा अनुभव नहीं करते कि तुम्हीं सुनने की प्रक्रिया ह । तुम हरदम इस सत्य के प्रति जागरूक हो कि सुनने की प्रक्रिया तुम्हारी है, तुम वह नहीं हो। अपने सम्बन्ध में गलत धारणा बना लेना ही मृत्यु के भय का कारण है।

जब तुम किसी मकान में रहने जाते हो और जानते हो कि वहाँ तुम्हें कुछ समय तक ही रहना है, तो तुम इस विचार से सहमते नहीं कि एक दिन उस घर को तुम्हें छोड़ देना है। एक घर से दूसरे घर में जाने के विचार से तुम दुःखी या निराश नहीं होते। ऐसा क्यों ? इसके पीछे जो मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है वह यह है कि तुम्हें यह स्पष्ट धारणा है कि वह घर तुम्हारा अंग नहीं है। वह तुम्हारे लाभ के लिए बना है, और यदि उससे तुम्हारी आवश्यकता की पूर्ति न हुई तो तुम हमेशा एक दूसरा घर ले सकते हो। दूसरे शब्दों में, तुम निवासी और निवास के भेद को अच्छी तरह समझते हो। तुम जानते हो कि तुम निवासी हो और अपने इस सामर्थ्य के प्रति पूर्ण जागरूक हो कि अपनी सुविधानुसार तुम अपने निवास में यथेष्ट रद्दोबदल कर सकते हो। तुम्हारे मन में निवासी और निवास के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में कोई भूल धारणा

या भ्रम नहीं है। साथ ही, तुम्हें यह भी विश्वास है कि घर के परिवर्तन से तुम्हारे आपे से सम्बन्धित कोई भी बात परिवर्तित नहीं होती; तुम वही के वही बने रहते हो। इसका कारण यह है कि तुम घर के स्वरूप से सर्वथा भिन्न अपने स्वरूप के सम्बन्ध में स्पष्ट धारणा रखते हो। यही मानसिक दृष्टिकोण मृत्यु के सम्बन्ध में प्राप्त किया जा सकता है, जब हम प्रकृत आत्मा को जान लेते हैं।

शरीर रूपी 'घर' के परिवर्तन के सम्बन्ध में प्रमुख कठिनाई यह है कि हमें निवासी और निवास के, अथवा निवासी के नैरन्तर्य के बारे में कोई स्पष्ट धारणा नहीं है। इसका कारण क्या यह है कि यह निवासी हमारे दिन-प्रतिदिन के अनुभव के लिए एकदम अनूठा है? नहीं, यह बात नहीं है। वास्तव में निवासी के स्वरूप अथवा इस देह-रचना के स्वभाव को कभी हमने विवेक और विश्लेषण के सहारे देखने की चेष्टा नहीं की। इसीलिए मैंने कहा कि मृत्यु के रहस्य को उद्घाटित करने के लिए हमें जीवन के और अपनी प्रकृत आत्मा के सम्बन्ध में स्पष्ट धारणा होनी चाहिए। भले ही आज देह और मन के माध्यम से हमें विभिन्न प्रकार के अनुभव हो रहे हैं, फिर भी, कम से कम अधिक पूर्णतामय जीवन की प्राप्ति के लिए, हम अपनी सारी चेतना को यह दृढ़ धारणा प्राप्त करने के लिए क्यों नहीं एकाग्र कर सकते कि इस जीवन में अभी, इसी क्षण हम देह या उसके व्यापार नहीं हैं? हम निवास या 'घर' नहीं हैं—न आंशिक रूप से, न पूर्ण रूप से। हम स्वतंत्र

निवासी हैं, हम उसमें निवास करते हैं। हम उस 'घर' के स्वामी और निवासी हैं। मान लो, तुम जितने स्पष्ट रूप से यह समझते हो कि तुम अपने कपड़ों के स्वामी हो, उनके धारण करनेवाले हो, उतने ही स्पष्ट रूप से यदि यह भी समझ गये कि यह शरीर आत्मा के द्वारा पहना गया केवल एक परिधान है और इसलिए यह आत्मा कपड़ों से बिलकुल अलग और भिन्न है; तो भी क्या तुम मृत्यु से भयभीत होगे? नहो; क्योंकि तब तो आत्मा का प्रकृत स्वभाव, उसकी गरिमा और सौन्दर्य तुम्हारे सम्मुख उद्-घाटित हो चुका रहेगा। तब तुम सूर्य के प्रकाश के समान स्पष्ट रूप से यह जान लोगे कि न तो तुम शरीर हो और न शरीर के परिवर्तनों का ही तुम पर कोई प्रभाव है। तब तुम अपने को मुक्त, द्रष्टा और ज्ञाता आत्मा के रूप में जान लोगे। तब तुम आवश्यक होने पर, अपनी प्रकृत आत्मा पर कोई आँच न डालते हुए, अपने 'कपड़े' बदल ले सकोगे और पुराने कपड़ों के त्याग का तुम्हें कोई दुःख न होगा।

यहाँ पर एक प्रश्न उठता है। हमें कैसे मालूम हो कि आत्मा शरीर के समान विनाशी नहीं है? हम स्मरण रखें, हमारा पहला प्रस्ताव यह था कि आत्मा शरीर और उसके व्यापारों से पूर्णतः पृथक् है। अच्छा, जब हम कोई परि-वर्तन या अनित्यता देखते हैं तो हमें किस प्रकार का अनु-भव होता है? तुमने क्या कभी भौतिक शरीर के परिवर्तन के साथ द्रष्टा या निवासी में किसी प्रकार का परिवर्तन

देखा है ? जब किसी मकान की मरम्मत होती है या उसमें रद्दोबदल होता है, तो क्या उसका मालिक भी बदल जाता है ? शरीर, मन या अन्य व्यापारों के परिवर्तनों से हमारी प्रत्यक् आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं होता। मान लो, कल तुम्हारा दिन अच्छा रहा और तुम बड़े खुश रहे, पर आज कुछ ऐसी बात हो गयी जिसने तुम्हें उदास बना दिया। इन दो प्रकार की मानसिक अवस्थाओं में क्या द्रष्टा एक और वही है, अथवा अलग अलग ? वह द्रष्टा, वह देखने वाला, जिसने कल अच्छा दिन देखा और आज बुरा, एक ही होना चाहिए। यदि कहो कि द्रष्टा भी बदल गया है तो तुम यह स्थापित नहीं कर सकोगे कि तुमने कोई परिवर्तन भी अनुभव किया है। यदि द्रष्टा ही बदल जाये, तो ऐसा कोई न रहेगा जो परिवर्तन को देख सके। मान लो, मोहन आज यहाँ आता है और इस कमरे की सारी चीजों की व्यवस्था देखकर जाता है। कल कमरे की ये सारी चीजें दूसरे ढंग से सजाकर रख दी जाती हैं और राजेन्द्र यहाँ आता है। क्या राजेन्द्र यह जान सकेगा कि कमरे की चीजों को नये ढंग से रखा गया है ? नहीं; इस नये ढंग को, इस परिवर्तन को पहचानने के लिये मोहन का ही आना आवश्यक है। जब किसी घटना में परिवर्तन होता है तो उस परिवर्तन को पहचानने के लिए उसी अवधि में उसी द्रष्टा का बने रहना अनिवार्य है। जब कभी हम कोई परिवर्तन अनुभव करते हैं, तो यह तर्कसम्मत रूप से कहा जा सकता है कि 'परिवर्तन' नाम से पुकारी जाने वाली घटना

की बदलती अवस्थाओं में द्रष्टा अपरिवर्तित रहता है। ऐसे अनुभवों पर अधिक सूक्ष्मता से विचार करो तो तुम्हें यह दृढ़ विश्वास हो जायेगा कि यद्यपि मनुष्य का शरीर, मन, भावनाएँ और प्रतीतियाँ बदलती हैं तथापि उसके भीतर एक आत्मा है, एक साक्षी और द्रष्टा है जो विषयों के परिवर्तन से परिवर्तित नहीं होता। (शरीर, मन, भावनाएँ आदि विषय हैं।) हमने पहले ही इस पर विचार किया है कि अन्तःस्थित आत्मा एक यौगिक पदार्थ नहीं है, न ही वह शरीर के व्यापारों का समवाय है। वह अयौगिक है, मौलिक है। वह परिवर्तन का द्रष्टा है, स्वयं परिवर्तनशील नहीं है। अतएव वह अटल और अविनाशी है एवं, अन्तिम विश्लेषण के अनुसार, 'एकमेवाद्वितीय' है। यदि जीवन में एक बार तुम इस भीतर निवास करनेवाली आत्मा के स्वरूप को समझ गये, तो तुम्हारे सम्मुख कोई यह सिद्ध ही नहीं कर सकता कि मृत्यु नाम की भी कोई कोई चीज है।

ऐसे कई लोग हैं जो रहस्य और गुप्त विद्या के जरिये मृत्यु के पश्चात् आत्मा के अस्तित्व को प्रमाणित करने में रुचि रखते हैं। ये प्रेतवादी कहलाते हैं। इनके और मेरे दर्शन में पर्याप्त अन्तर है। जबकि ये किसी व्यक्ति के मरने पर उसके प्रेत में अभिरुचि रखते हैं, तब मैं अभी जीते-जी इसी क्षण अपने भीतर विद्यमान आत्मा के प्रकृत स्वरूप को जानने में रुचि रखता हूँ। समस्त विचारशील और स्वस्थ मानस सम्पन्न व्यक्तियों को इसी जीवन में उस

अन्तःस्थित आत्मा की अनुभूति कर लेने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि मैं अभी, इस क्षण उसे जान लेता हूँ तो यह विश्वास करने के लिए कि मेरे भीतर एक आत्मा है जो शरीर के साथ मृत्यु को नहीं प्राप्त होती, मुझे किसी रहस्यात्मक प्रयोग पर निर्भर नहीं रहना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त, जब मैं अपने और दूसरों के भीतर विद्यमान इस प्रकृत आत्मा के स्वरूप को जान लेता हूँ, तो मेरा जीवन विश्वप्रेम, सद्भावना और शान्ति से धन्य हो उठता है।

भगवद्गीता में मृत्यु को, जीर्ण वस्त्र त्यागकर नये वस्त्र धारण करने के रूपक से समझाया गया है। वहाँ भीतर के निवासी को 'देही' कहा गया है। इस उपमा को जाँच लेना चाहिए। मैं ऐसा कट्टर नहीं हूँ कि कहूँ, चूँकि भगवद्गीता में ऐसा लिखा है इसलिए तुम लोग आँखें मूँदकर उसे मान लो। शास्त्र हमें रचनात्मक संकेत देते हैं और उन संकेतों के बल पर हमें गवेषणा और छानबीन के कार्य में लग जाना चाहिए। जब तक तुम यह अनुभव नहीं कर लेते कि तुम इस शरीर का उपयोग करनेवाले साक्षी आत्मा हो, तब तक संशय और संदेह तुम्हें परेशान करेंगे ही। जब हम जड़ को अपना भगवान् मान लेते हैं और केवल शरीर-सुख के लिए जीवित रहते हैं, तभी मृत्यु भेड़िये के समान सतत हमारा पीछा करती है!

अब एक प्रश्न और उपस्थित होता है। क्या हम पुराने वस्त्र और पुराने औजारों को बलपूर्वक नष्ट कर नया वस्त्र

और नये औजारों का एक उत्तम सेट प्राप्त कर सकते हैं ? नहीं, ऐसा नहीं होता। जब तक हम स्वाभाविक रूप से उत्तम सेट प्राप्त नहीं करते तब तक हमें धैर्य रखना चाहिए। आत्महत्या के द्वारा मनुष्य उन औजारों को नष्ट ही करता है जो अभी भी उसे आवश्यक हैं। इसके अलावे, जो अविचारपूर्वक शरीर को नष्ट कर दुःखों और कष्टों से छुटकारा पाना चाहते हैं, उन्हें उस अन्तःस्थित 'देही' की कोई कल्पना नहीं, जो शरीर के साथ मरता तो नहीं पर घरबारहीन और निराश्रित हो जाता है। यह कुछ इस प्रकार है जैसे अपने घर को असुविधाजनक और जीर्ण कहकर जला डालना; पर इससे जाड़े की रात में और भी अधिक कष्ट को निमंत्रण देना है। केवल अज्ञानी व्यक्ति ही देह को सर्वस्व मानते हैं और इसलिए वे एक या दूसरी अति में चले जाते हैं।

ऐसे भी लोग होते हैं, जिन्हें यह सिखाने पर कि शरीर केवल वस्त्रों के समान है, एक विकृत मानसिक प्रतिक्रिया उनमें उत्पन्न हो जाती है। वे शरीर की निन्दा करते हैं और उससे घृणा करते हैं। वे प्रतिक्रियावादी बन जाते हैं और आत्मपीड़न करने लगते हैं। वे उस पवित्र अन्तःस्थित आत्मा के सम्बन्ध में नहीं जानते जो एक विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए शरीर का उपयोग करती है। यह शरीर हमें इसलिए मिला है कि इसके सहारे हम अपने आत्म-भाव को प्रकट कर लें। अतः शरीर की उपेक्षा करने में, उससे घृणा करने में, अथवा उसे एक बड़ा बन्धन मानने

में कौन सा तुक है? जैसे, जब हम किसी मशीन का उपयोग करते हैं, तो पहले यह जान लेते हैं कि उस मशीन की ताकत इतनी है, उसकी सामर्थ्य इतनी है और वह इतनी दूर तक हमें ले जायेगी; उसी प्रकार हमें इस शरीर को भी जान लेना चाहिए और उससे उतनी ही सेवा की अपेक्षा रखनी चाहिए जितनी की वह दे सकता है। प्रकृति के अपरिहार्य नियम के वशीभूत हो एक दिन यह शरीर झड़ जायगा, अतः उसमें डर की कौनसी बात है?

कुछ दूसरे लोग साधन को ही साध्य समझ बैठते हैं। औजार-पेटी का समुचित उपयोग कर लाभ उठाने के बदले वे उसी को लेकर आनन्द मनाने लगते हैं। वे उसे चौकी पर रख देते हैं, उसे सजाते हैं, सँवारते हैं और दूसरों को बुलाकर उसे दिखाने में ही अपना सारा समय और सारी शक्ति खर्च कर देते हैं। उनकी इच्छा रहती है कि लोग उसकी प्रशंसा करें और उन्हें वाहवाही दें। क्या सोचते हो कि ऐसा भ्रम तुम्हें कहीं ले जा सकता है? हजारों और लाखों लोग ऐसे हैं जिन्हें यह पता नहीं कि औजारों के सहारे उन्हें कुछ पाना भी है। आत्मा के साथ शरीर के सम्बन्ध को बिना समझे जब मनुष्य शरीर से आसक्त हो जाता है, तो मृत्यु उसकी आँखों में झाँकती है!

प्रत्येक वस्तु के सम्यक् मूल्य और स्वरूप को जानो और बिना जाने किसी की निन्दा या प्रशंसा न करो। जान लो कि शरीर एक रथ है जिस पर देही सवार होकर आत्म-साक्षात्कार के गन्तव्य पर पहुँचता है। तब मृत्यु

अपनी विभीषिका खो देती है, उससे लगे भय और अन्ध-विश्वास छूट जाते हैं। हम मृत्यु को नहीं जानते इसीलिए उससे घृणा करते हैं। हम उसका नाम सुनते ही सिहरते हैं, इसलिए कि हम उन अवसरों को मूर्खतावश टालते जाते हैं जो हमारे जीवन में प्रतिक्षण उपस्थित होकर हमें जीवन की सत्यता समझा देना चाहते हैं। मृत्यु को मृत्यु के मुख में डालने का सबसे अमोघ उपाय है—प्रकृत आत्मा को जान लेना।

—'वेदान्त एंड दि वेस्ट' से साभार।

रूपयौवनसंपन्ना विशालकुलसंभवाः।
विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः॥

—अर्थात्, भले ही कोई सुन्दर हो, तरुण हो और बड़े कुल में उत्पन्न भी हुआ हो, पर यदि वह विद्याहीन है, तो बिना गन्ध वाले पलाश के फूल के समान उसकी शोभा नहीं होती।

—चाणक्य

स्वामी ब्रह्मानन्द

प्राध्यापक नरेन्द्र देव वर्मा

युगावतार श्रीरामकृष्णदेव अपार भावमय थे। विविध धर्मों की सफलतापूर्वक साधना करने के उपरान्त उनका जीवन ईश्वरीय अनुभूति से लबालब भर चुका था। उनका मन माया के राज्य से ऊपर उठकर सदैव अतीन्द्रिय अनुभूति में प्रतिष्ठित रहता था। सामान्य मानव-मन को उनकी लोकोत्तर अवस्था की धारणा नहीं हो सकती। किन्तु उनके अन्तरंग भक्त और शिष्य भी थे। इन्हीं शिष्यों ने परवर्ती काल में उनके संदेश को संसार के कोने-कोने तक पहुँचाया था। एक ओर उन्होने संसार को युगावतार के आगमन की सूचना दी थी और दूसरी ओर अपने जीवन के माध्यम से उनकी अपरिसीम महानता को धारण करने के लिए संकेत दिया था। असल में, उनके अन्तरंग भक्त उनके एक-एक गुण के प्रतीक स्वरूप थे। एक में यदि प्रखर ज्ञानसूर्य प्रज्वलित हो रहा था तो दूसरे के हृदय में भाव का सागर लहरें मार रहा था। इन्हीं अन्तरंग भक्तों को श्रीरामकृष्णदेव 'ईश्वरकोटि' और 'नित्यसिद्ध' कहा करते थे। उनका विचार था कि इन्होंने संसार के कल्याण के लिए जन्मग्रहण किया है।

अपने अन्तरंग शिष्यों के प्रति श्रीरामकृष्णदेव की यह धारणा निर्मूल नहीं थी जगन्माता के द्वारा उन्हें अपने

प्रत्येक शिष्य के मन, स्वभाव तथा जन्मग्रहण के प्रयोजन का ज्ञान हो चुका था। उचित अवसर पर श्रीरामकृष्णदेव ने इन सभी शिष्यों को आध्यात्मिक उपलब्धियाँ प्रदान की थीं। जिस प्रकार एक शक्तिशाली विद्युत्-यंत्र रात-रात विद्युत्-दीपों को जगमगा देता है उसी प्रकार भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के पुनीत साहचर्य में उनके शिष्यों का जीवन आलोकित हो उठा था। श्रीरामकृष्णदेव आध्यात्मिकता के अकूल-अथाह सागर थे। उनके शिष्यों का जीवन उस सागर की ऊर्मियों के समान था। श्रीरामकृष्णदेव ईश्वरीय अनुभूति के विग्रहस्वरूप थे। उनके शिष्य उस अतीन्द्रिय अनुभूति के शक्तिशायी माध्यम बने।

स्वामी ब्रह्मानन्द इन्हीं अन्तरङ्ग शिष्यों में से एक थे। एक दिन श्रीरामकृष्णदेव ने देखा कि उनका मन बड़ी तीव्रता से संसार की सीमाओं से ऊपर उठकर गहन समाधि की ओर बढ़ रहा है। इस अवस्था में उन्हें बड़ी विलक्षण अनुभूति हुई। उन्होंने देखा कि गंगाजी के वक्ष पर एक सहस्रदल कमल खिला हुआ है। वह सामान्य कमल नहीं है। वह तो मानो आलोक से ही निर्मित है। उसके चारों ओर उच्छ्लित प्रकाश का एक वृत्त सा बन गया है। उस कमल के ऊपर भगवान् श्रीकृष्ण एक गोप-बालक का हाथ पकड़े हुए खड़े हैं। इसी गोपबालक की अनुभूति उन्हें राखालचन्द्र घोष में हुई थी। एक अन्य अवसर पर उन्होंने समाधि में देखा था कि जगन्माता की गोद में एक बालक है तथा जगन्माता उस बालक को दिखाकर उनसे कह रही

हैं कि वह उनका पुत्र है। जगन्माता की बात सुनकर श्रीरामकृष्णदेव अत्यन्त व्याकुल हो उठे। उनका शरीर सिहरने लगा और वे अत्यन्त संकुचित होकर कहने लगे, "नहीं माँ, ऐसा नहीं हो सकता।" तब अपने अधीर पुत्र को धीरज बँधाते हुए माता ने कहा, "यह तुम्हारा मानस-पुत्र है।" तब कहीं श्रीरामकृष्णदेव शान्त हुए। राखालचन्द्र घोष को देखते ही उन्होंने जान लिया कि जगन्माता ने इसी की ओर संकेत किया था।

यही बालक राखालचन्द्र घोष ही परवर्ती काल में स्वामी ब्रह्मानन्द बने। उनका जन्म २४ जनवरी सन् १८६३ को चौबीस परगना के बसीरहाट नामक कस्बे में हुआ था। उनके पिता श्रीयुत आनन्द मोहन घोष एक बड़े जमींदार थे। यद्यपि राखाल के माता-पिता कृष्ण के बड़े भक्त थे किन्तु राखाल को अधिक समय तक माता का स्नेह नहीं मिल सका। जब वे पाँच वर्ष के थे तभी उनकी माता की मृत्यु हो गई थी तथा उनके पिता ने दूसरा विवाह कर लिया था। बालक राखाल का लालन-पालन उनकी विमाता ने ही किया था।

यथा समय बालक राखाल को विद्याभ्यास के लिए गाँव की पाठशाला में भेजा गया। उस समय के शिक्षक समझते थे कि बिना बेतों के विद्यार्थियों को विद्या नहीं आ सकती। इसलिए वे बड़े धड़ल्ले से बेतों का प्रयोग किया करते थे। किन्तु राखाल का हृदय बड़ा कोमल था। वे अपने साथियों को पिटते देखकर सिहर उठते थे। इस बात

का ज्ञान जब उनके शिक्षक को हुआ तब उन्होंने बालकों को मारना छोड़ दिया।

राखाल एक मेधावी विद्यार्थी थे। उनका शरीर पर्याप्त हृष्ट-पुष्ट था। कुश्तियों और खेलों में उनके साथी उन्हें कभी पछाड़ नहीं पाते थे। इसके अतिरिक्त धार्मिक वातावरण में उनकी आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ भी जाग रही थीं। उनके घर के समीप ही एक काली मंदिर था। वे अक्सर वहाँ जाकर माता की पूजा किया करते थे। दुर्गोत्सव के अवसर पर उनका आनन्द असीम हो उठता और वे घण्टों माता के विग्रह के सामने खड़े रहकर पूजा देखा करते थे। उन्हें धार्मिक भजनों से भी बड़ा लगाव था। वे यदा-कदा अपने साथियों के साथ दूर खेतों की ओर निकल जाया करते और मुग्ध होकर एक साथ भजन किया करते थे। गाते समय भावावेश के कारण वे अपनी देह की सुध-बुध भूलकर अलौकिक भावराज्य में पहुँच जाया करते थे।

गाँव की पढ़ाई के समाप्त होने पर राखाल को आगे पढ़ने के लिये कलकत्ते के इङ्गलिश हाई स्कूल में भेजा गया। इसी समय से उनके जीवन का नया अध्याय शुरू होता है, क्योंकि इसी स्कूल में नरेन्द्रनाथ दत्त भी पढ़ा करते थे जो परवर्ती काल में युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द बने। नरेन्द्रनाथ अपने चुम्बकीय व्यक्तित्व के माध्यम से विद्यार्थियों के अगुवा बन गए थे। राखाल भी सहज भाव से उनकी ओर आकर्षित हुए और थोड़े ही दिनों में वे

दोनों घनिष्ठ मित्र बन गये। उनकी मैत्री दिनोंदिन प्रगाढ़ से प्रगाढ़तर होती चली गई।

राखाल और नरेन्द्रनाथ नियमित रूप से व्यायामशाला जाया करते थे और ब्रह्मसमाज की सभाओं में भी उपस्थित रहा करते थे। नरेन्द्रनाथ के साहचर्य में राखाल की आध्यात्मिक जिज्ञासाएँ जागने लगीं। युवक नरेन्द्रनाथ के समान उनके मन में भी जीव और जगत् के सम्बन्ध में नए-नए प्रश्न उदित होने लगे। वे जीवन और मृत्यु के रहस्य को जानना चाहते थे और ईश्वर के अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त करना चाहते थे। यद्यपि राखाल की बुद्धि बड़ी तीव्र थी किन्तु अब उनकी रुचि पढ़ाई से हट गई। जब उनके पिता को इस बात की सूचना मिली तब पहले तो उन्होंने राखाल को बड़े प्रेम से समझाया। जब समझाने-बुझाने का कोई प्रभाव नहीं पड़ा तब उनपर सख्ती होने लगी। किन्तु इससे राखाल पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वे सांसारिकता की ओर झुक ही नहीं सके। निदान उनके पिता ने अपने पुत्र को सांसारिकता में लगने के लिए अचूक विधि का प्रयोग किया और राखाल का विवाह कर दिया। किन्तु इसका परिणाम ठीक उल्टा निकला। इसी विवाह के माध्यम से राखाल एक ऐसे देवमानव के सम्पर्क में आए जिन्होंने उनके जीवन की दिशा ही बदल दी।

दक्षिणेश्वर से कुछ मील दूर गंगाजी के तट पर कोन्न-गर नामक गाँव है। राखाल का विवाह इसी गाँव के मनोमोहन मित्र की बहिन के साथ हुआ था। मनोमोहन

और उनकी माता श्रीरामकृष्णदेव के परम भक्त थे तथा यदा-कदा उनका दर्शन करने के लिए दक्षिणेश्वर जाते रहते थे। एक दिन राखाल भी उनके साथ गए। श्रीराम-कृष्णदेव के समीप पहुँचकर उन्होंने उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम किया। श्रीरामकृष्णदेव उन्हें देखकर बड़े प्रसन्न हुए। अपनी प्रसन्नता को प्रकट न करते हुए उन्होंने बड़ी आत्मी-यता से राखाल से बातें की। राखाल ठाकुर श्रीरामकृष्ण के इस अहैतुक स्नेह को देखकर चकित से रह गए। उन्हें ऐसा लगा मानों एक युग के बाद उन्हें ठाकुर के द्वारा मातृस्नेह मिला है। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि श्रीरामकृष्णदेव के साथ उनका युग-युगान्तर से सम्बन्ध है तथा वे उनके घनिष्ठतम आत्मीय जन हैं। घर लौटने पर भी उनका मन श्रीरामकृष्णदेव में ही लगा रहा। एक दिन वे अकेले ही दक्षिणेश्वर जा पहुँचे। राखाल के प्रणाम करते ही श्रीरामकृष्णदेव समाधिस्थ हो गए।

श्रीरामकृष्णदेव के अलौकिक प्रेम से आकर्षित होकर राखाल का दक्षिणेश्वर में आना-जाना बढ़ गया। कभी-कभी तो वे दक्षिणेश्वर में ही एक-दो दिन रुक जाया करते थे। उन्हें श्रीरामकृष्णदेव से अपार स्नेह मिला था और वे भी उनसे अगाध स्नेह किया करते थे। यद्यपि इस समय उनकी आयु १८-१९ वर्ष की ही थी किन्तु वे श्रीरामकृष्णदेव के समीप एक अबोध शिशु के समान व्यवहार करते थे। श्रीरामकृष्णदेव के साथ उनका सम्बन्ध बड़ा विलक्षण था। जहाँ श्रीरामकृष्णदेव की सेवा करने में अन्य भक्तगण

अपना परम सौभाग्य समझते थे वहाँ राखाल कभी कभी उनका कार्य करने से इंकार कर देते थे। इन बातों को सुनकर श्रीरामकृष्णदेव अप्रसन्न होने के स्थान पर अतीव प्रसन्न हो उठते थे क्योंकि इस व्यवहार के मूल में उन्हें राखाल का अपने प्रति अगाध स्नेह झलकता था। किन्तु सामान्यतः राखाल श्रीरामकृष्णदेव की बड़ी सेवा किया करते थे। वे श्रीरामकृष्णदेव के साथ छाया के समान लगे रहते थे तथा समाधि के क्षणों में उनकी देह को सम्हाला करते थे। जब श्रीरामकृष्ण चलते-चलते भावाविष्ट हो जाते तब राखाल ही उनका हाथ पकड़कर उन्हें रास्ता बताया करते तथा जोर जोर से बोलते हुए उन्हें रास्ते के उतार-चढ़ाव का ज्ञान कराया करते थे। पर वे यदा-कदा बालकों के समान हठ भी किया करते थे। ऐसे समय में श्रीरामकृष्णदेव को ही राखाल की देखभाल करनी पड़ती थी।

अब तक राखाल का मन पढ़ने-लिखने से उचट चुका था और वे दक्षिणेश्वर में ही अपना अधिक समय बिताया करते थे। राखाल के पिता को जब यह समाचार मिला तब वे बहुत क्रुद्ध हुए और उसे पकड़कर एक कमरे में बन्द कर दिया। वे अपने पुत्रका ध्यान संसार की ओर खींचना चाहते थे। किन्तु राखाल चरमतत्व के साक्षात्कार को अपने जीवन का ध्येय बनाए हुए थे। वे किसी तरह कमरे से भाग निकले और पुनः दक्षिणेश्वर पहुँच गए। हताश होकर उनके पिता ने श्रीरामकृष्णदेव के अनुरोध पर राखाल को दक्षिणेश्वर में ही छोड़ दिया। इससे एक ओर

तो राखाल की चिन्ता छूट गई और दूसरी ओर उन्हें श्रीरामकृष्णदेव के साथ अबाध रूप से रहने का सुयोग मिल गया।

श्रीरामकृष्ण देव राखाल से केवल स्नेह ही नहीं करते थे अपितु उन्होंने यत्नपूर्वक उन्हें आध्यात्मिक साधना के पथ पर अग्रसर भी किया था। एक दिन श्रीरामकृष्णदेव ने देखा कि राखाल के चेहरे पर मलिनता छाई हुई है। उन्होंने जब इसका उनसे कारण पूछा तब पहले तो राखाल कुछ समझ ही नहीं सके। बाद में उन्होंने सोचकर बताया कि उन्होंने उस दिन परिहास में एक मित्र से असत्य बात कह दी थी। तब श्रीरामकृष्णदेव ने उन्हें सपने में भी असत्य भाषण न करने की ताकीद कर दी।

दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्णदेव के चरणों के समीप बैठकर राखाल की आध्यात्मिक प्रगति तीव्रता से होने लगी। उपयुक्त अवसर जानकर श्रीरामकृष्णदेव ने उन्हें इष्ट-निर्देश किया तथा गुरुमंत्र प्रदान किया। अब तो राखाल सम्पूर्ण हृदय और मन से ईश्वर का ध्यान करने लगे। वे ध्यान और जप में डूब गए। श्रीरामकृष्णदेव उनकी प्रगति को देखकर अत्यधिक प्रसन्न थे। राखाल अहर्निश इष्टदेव के मंत्र का जाप किया करते और उनके अधर सदैव मौन रूप से फड़कते रहते। राखाल के मंत्रोच्चारित करने वाले अधरों को देखकर श्रीरामकृष्णदेव तत्काल समाधि में लीन हो जाया करते। अब श्रीराम कृष्णदेव उहें योग और साधना के रहस्यों से परिचित

कराने लगे। यद्यपि राखाल एकान्त में गुप्त रूप से साधना किया करते थे तथा किसी से अपनी साधनाओं की चर्चा नहीं करते थे फिर भी उनके मुख की कांति उनकी साधना के रहस्य को उद्घाटित करती रहती थी। इसीलिए श्रीरामकृष्णदेव उनके सम्बन्ध में कहा करते थे कि "राखाल एक ऐसे पके आम की तरह है जो बाहर से पका हुआ नहीं दिखता।"

आध्यात्मिक साधना का पथ सुगम नहीं होता। उसमें उतार-चढ़ाव सदैव आया करते हैं। यदि सुयोग्य गुरू का निर्देशन मिले तो शिष्य समस्त बाधाओं को पार कर लेता है। एक बार राखाल काली मंदिर में बैठकर ध्यान करने लगे। किन्तु आज उनका मन जैसे विरोध करने पर तुला हुआ था। वे अपने मन को प्रयत्नपूर्वक इष्टदेव पर एकाग्र करने लगे पर उन्हें सफलता नहीं मिली। निराश होकर वे कालीमंदिर से निकल आए। उस समय श्रीरामकृष्णदेव टहल रहे थे। राखाल को आते देखकर उन्होंने पूछा, "आज तुम इतनी जल्दी कैसे उठ आए ? "राखाल ने उन्हें अपनी मनः स्थिति बताई। एक क्षण के लिए श्रीरामकृष्ण देव मौन रहे और दूसरे ही क्षण उन्होंने भावाविष्ट होकर उनकी जिह्वा में कुछ लिख दिया और पुनः ध्यान करने का आदेश दिया। राखाल जब फिर से ध्यान करने बैठे तो उन्हें बड़ी विलक्षण अनुभूति हुई। उन्होंने अनुभव किया कि गुरु की कृपा के प्रभंजन से उनकी मानसिक बाधाओं की मेघमाला छिन्न-भिन्न हो गई है और उनका मन बड़ी तीव्रता से ईश्वरीय चेतना से युक्त हो रहा है।

इसके बाद ही दूसरी बाधा भी आ गई। राखाल को नियमित रूप से ज्वर आने लगा। उनकी यह दशा देखकर श्रीरामकृष्णदेव अतीव चिन्तित हुए। उन्होंने सोचा कि जलवायु-परिवर्तन से सम्भवतः राखाल को लाभ पहुँच सकता है। इसलिए उन्हें बलराम बोस के साथ वृन्दावन-धाम भेज दिया। राखाल वृन्दावन चले गए। किन्तु श्रीरामकृष्णदेव की चिन्ता कम होने के बजाय अधिक बढ़ गई। वे जानते थे कि राखाल भगवान श्रीकृष्ण के बाल-सहचर हैं और जैसे ही उन्हें इस बातका ज्ञान होगा वैसे ही वे देहत्याग कर देंगे। उन्हें इस बात की चिन्ता थी कि कहीं वृन्दावन के पुनीत वातावरण में राखाल की पूर्व स्मृतियाँ उद्दीपित न हो जाएँ। इसलिए उन्होंने राखाल की रक्षा के लिए माता से बार-बार प्रार्थना की। तीन महीनों के बाद राखाल वापस लौटे। उन्हें हृष्ट पुष्ट देखकर श्रीरामकृष्णदेव बड़े आनन्दित हुए।

अच्छे दिन बहुत जल्दी बीत जाया करते हैं। श्रीराम-कृष्णदेव के गले में घाव हो गया था। वैद्यों और डॉक्टरों के प्रयासों के बावजूद उनकी स्थिति सुधर नहीं रही थी। इसलिए वायु-परिवर्तन की दृष्टि से उन्हें पहले श्यामपुकूर ले जाया गया और बाद में काशीपुर उद्यान में रखा गया। ऐसा लगता है कि श्रीभगवान् ने इस घटना के माध्यम से अनुग्रहपूर्वक श्रीरामकृष्णदेव के शिष्यों और भक्तों के लिए गुरु-सेवा का सुयोग जुटाया था। राखाल भी नरेन्द्रनाथ इत्यादि युवकों के साथ गुरु की सेवा में मन-प्राणसे

जुट गए। एक दिन श्रीरामकृष्णदेव ने नरेन्द्रनाथ को एकान्त में बुलाकर बताया कि राखाल में एक साम्राज्य का शासन करने की योग्यता है। नरेन्द्रनाथ ने गुरुदेव के इस संकेत को हृदयंगम कर लिया। बाहर आकर उन्होंने अपने गुरुभाइयों से कहा कि आज से हमें राखाल को 'राजा' कहकर सम्बोधित करना चाहिए। सभी गुरु भाई नरेन्द्रनाथ से तत्काल सहमत हो गए और राखाल गुरुभाइयों के 'राजा' हो गए। जब श्रीरामकृष्णदेव को नरेन्द्रनाथ के निर्णय की सूचना मिली तब वे बहुत हर्षित हुए।

श्रीरामकृष्णदेव की प्राणरक्षा के लिए उनके शिष्यों और भक्तों ने अथक प्रयास किया, किन्तु उनकी दशा दिनों-दिन बिगड़ती जा रही थी। असल में; अब युगावतार का प्रयोजन समाप्त हो चुका था और वे अपनी लीला का संवरण कर रहे थे। राखाल ने उनसे बिलखते हुए प्रार्थना की थी कि वे जगन्माता से कहकर आरोग्य लाभ कर लें। किन्तु श्रीरामकृष्णदेव का मन तो इन्द्रियातीत अनुभूति में निमज्जित था। जगन्माता से देह रक्षा की याचना करना उनकी कल्पना से परे की बात थी। १६ अगस्त, १८८६ के दिन भगवान श्रीरामकृष्ण अन्तर्हित हो गए।

श्रीरामकृष्णदेव के लीलासंवरण के उपरान्त उनके शिष्य वराहनगर मठ में एकत्रित हुए। उन्होंने नरेन्द्रनाथ के नेतृत्व में संन्यास ग्रहण कर लिया। इसी समय उन लोगों ने अपने पूर्व नाम का त्याग करते हुए नए नामों को

ग्रहण किया। नरेन्द्रनाथ स्वामी विवेकानन्द बने और राखाल स्वामी ब्रह्मानन्द हो गए। फिर भी उनके गुरुभाई उन्हें 'राजा' ही कहा करते थे। वराहनगर मठ में श्रीराम-कृष्णदेव के लीला-सहचर कठोर तितिक्षापूर्ण जीवन बिताने लगे। वे रात-दिन अपनी देह की चिन्ता छोड़कर चरम-सत्य को जानने के लिए लग गए। कुछ गुरुभाई तपस्या के लिए बाहर चले गए। स्वामी ब्रह्मानन्द भी पुरी चले आए और तपस्या में लीन हो गए। यहाँ उन्हें बहुत तिति-क्षापूर्ण जीवन बिताना पड़ता था। भिक्षा के द्वारा उन्हें जो कुछ मिल जाता उसे ही ग्रहण कर वे तपस्या में लग जाते थे। श्रीरामकृष्ण देव के गृहस्थ भक्त श्री बलराम बोस की पुरी में काफी सम्पति थी। जब उन्हे स्वामी ब्रह्मानन्द के कष्टपूर्ण जीवन-यापन का समाचार मिला तब वे उनके पास आकर अपने साथ ठहरने का अनुरोध करने लगे। स्वामी ब्रह्मानन्द ने देखा कि वे पुरी में रहकर स्वतंत्रता-पूर्वक साधना नहीं कर पाएंगे। इसलिए वे वराहनगर मठ लौट आए। किन्तु उन्होंने पुनः स्वामी विवेकानन्द से उत्तर भारत की ओर जाने की इच्छा प्रकट की। स्वामीजी ने उन्हें सहर्ष अनुमति देते हुए उनके साथ स्वामी सुबोधा-नन्द को भी भेज दिया ताकि उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न हो। इस बार स्वामी ब्रह्मानन्द बनारस आदि तीर्थस्थानों का दर्शन करते हुए पुण्यसलिता नर्मदा के तट पर स्थित ओंकारमान्धाता पहुंचे। ओंकारेश्वर का दर्शन करते ही वे अभिभूत हो गए तथा छः दिनों तक गम्भीर समाधि में

निमग्न रहे। ओंकारमान्धाता से पंचवटी, द्वारका, पोरबन्दर, गिरनार और अजमेर आदि तीर्थस्थानों का दर्शन करते हुए वे वृन्दावन आ गए।

वृन्दावन में पहुंचते ही स्वामी ब्रह्मानन्द का मन बड़ी तीव्रता से समाधि में निमग्न रहने लगा। यद्यपि स्वामी सुबोधानन्द उन्हीं के साथ रहते थे पर स्वामी ब्रह्मानन्द उनसे बहुत कम बोला करते थे। उन्हीं दिनों श्रीरामकृष्णदेव के एक अन्य भक्त श्री विजयकृष्ण गोस्वामी भी वृन्दावन में सत्संग कर रहे थे। उन्होंने जब स्वामी ब्रह्मानन्द को कठिन तपश्चर्या करते देखा तो उनसे पूछा, "तुम इतनी कठिन तपस्या क्यों कर रहे हो? ठाकुर से तुम्हें जो कुछ मिला है वह क्या तुम्हारे लिए पर्याप्त नहीं है?" तब स्वामीजी ने कहा, "ठाकुर से जो कुछ मुझे मिला है मैं उसी को स्थायी बनाना चाहता हूँ।" कुछ समय के बाद स्वामी सुबोधानन्द हरिद्वार चले गए। अब स्वामीजी को अधिक स्वतंत्रता मिली और वे और भी अधिक तीव्रता के साथ तपस्या में लग गए। किन्तु इसी बीच उन्हें श्री बलराम बोस के देहावसान का समाचार मिला। इस समाचार से वे उद्विग्न हो गए और अधिक एकान्त के लिए हरिद्वार चले आए। यहाँ वे कनखल में निवास करते हुए तपस्या करने लगे। यहीं उनकी भेंट स्वामी विवेकानन्द, स्वामी सारदानन्द, स्वामी तुरियानन्द और वैकुण्ठ सान्याल से हुई। स्वामी विवेकानन्द को स्वामी ब्रह्मानन्द के स्वास्थ्य की बड़ी चिन्ता थी। इसलिए उन्होंने उन्हें अपने साथ चलने का अनुरोध किया। दिल्ली

पहुँचकर स्वामी विवेकानन्द ने अपने गुरुभाइयों को अकेले तपस्या करने की अनुमति दे दी। इस बार स्वामी तुरीयानन्द, स्वामी ब्रह्मानन्द के साथ थे। वे दोनों ज्वालामुखी, सिन्ध और पंजाब के तीर्थस्थानों का भ्रमण करते हुए बम्बई पहुँचे। यहाँ वे पुनः स्वामी विवेकानन्द से मिले जो सर्व-धर्म-परिषद में भाग लेने के लिए शिकागो जा रहे थे। बम्बई से स्वामी ब्रह्मानन्द स्वामी तुरीयानन्द के साथ पुनः वृन्दावन पहुँचे और ईश्वर की आराधना में लग गए।

आध्यात्मिक साधना में लीन रहने के कारण स्वामीजी को देह-काल की सुधि न रही। दिन पर दिन बीतते चले गए पर उनका मन तैलधारवत् ईश्वर के चरणों में लगा रहा। एक दिन सहसा उन्हें स्वामी विवेकानन्द के विश्वविजय की सूचना मिली। उनके आनन्द की सीमा न रही। उन्होंने ठाकुर की स्वामी विवेकानन्द के सम्बन्ध में की गई भविष्य-वाणी को साकार होते देखा। उनके पास स्वामी विवेकानन्द के पत्र पर पत्र आ रहे थे। स्वामी विवेकानन्द भारतीय नवोत्थान के लिए संघबद्ध प्रयास को उपयुक्त समझते थे तथा इस कार्य के लिए उन्होंने स्वामी ब्रह्मानन्द से लौटने का अनुरोध किया। वराहनगर मठ से भी उनके पास वापस लौट आने के लिए पत्र आ रहे थे। इसलिए स्वामी तुरीयानन्द पहले लौटे और स्वामी ब्रह्मानन्द कुछ दिनों के पश्चात् वराहनगर मठ पहुँचे।

स्वामी विवेकानन्द और स्वामी ब्रह्मानन्द का सम्बन्ध बड़ा अद्भुत था। वे दोनों ठाकुर के प्रिय पार्षद थे। उन

दोनों का जन्म श्रीभगवान के युगावतार के कार्य को पूर्ण करने के लिए हुआ था। जब स्वामी विवेकानन्द लगभग पाँच वर्षों के पश्चात् भारत लौटे तो उन्होंने स्वामी ब्रह्मानन्द को प्रणाम करते हुए कहा, "गुरु का पुत्र गुरु के समान ही प्रणम्य है।" स्वामी ब्रह्मानन्द ने तत्काल स्वामी विवेकानन्द का चरण स्पर्श करते हुए उत्तर दिया, "बड़ा भाई पिता के समान ही प्रणम्य है।" स्वामी विवेकानन्द ने अपनी भारतीय नवोत्थान की योजना के लिए अमेरिका से जो धन एकत्रित किया था उसे स्वामी ब्रह्मानन्द को सौंपते हुए कहा था, "अब मैं उचित व्यक्ति को यह धन सौंप कर मुक्त हो गया।"

स्वामी ब्रह्मानन्द स्वामी विवेकानन्द के मित्र, मंत्री और पथ प्रदर्शक थे। जब स्वामी विवेकानन्द ने रामकृष्ण मिशन सोसायटी का निर्माण किया, तब उन्होंने स्वामी ब्रह्मानन्द को कलकत्ता के मुख्य केन्द्र का अध्यक्ष बनाया। यद्यपि वे स्वयं जनरल प्रेसीडेन्ट थे किन्तु कुछ समय के उपरान्त उन्होंने यह उत्तरदायित्व भी उन्हीं पर सौंप दिया। स्वामी विवेकानन्द का उनपर अगाध विश्वास था। वे कहा करते थे, "भले ही सारा संसार मुझे त्याग दे किन्तु 'राजा' आखिरी दम तक मेरा साथ नहीं छोड़ेगा" किन्तु कभी-कभी उन दोनों में हल्का-फुल्का झगड़ा भी हो जाया करता था। असल में, यह उनके तलस्पर्शी प्रेम का सूचक था। स्वामी विवेकानन्द पशु-पक्षियों के प्रेमी थे तथा स्वामी ब्रह्मानन्द पेड़-पौधों से स्नेह रखते थे। जब कभी स्वामी

विवेकानन्द के पशु-पक्षी स्वामी ब्रह्मानन्द की बगिया को चरने लगते तो वे आपस में झगड़ने लगते थे। जो भी उनके इस झगड़े को देखता था, उसके लिए हँसी रोक पाना असम्भव हो जाया करता था। इसीप्रकार, कभी-कभी स्वामी ब्रह्मानन्द स्वामी विवेकानन्द की योजनाओं में उलट-फेर कर दिया करते थे। इसलिए स्वामी विवेकानन्द उनपर क्रोधित हो जाते। किन्तु जैसे ही उन्हें अपनी त्रुटि का ज्ञान होता वैसे ही वे उनसे क्षमा भी माँग लेते थे।

स्वामी ब्रह्मानन्द रामकृष्ण मठ को आध्यात्मिकता के प्रसार का शक्तिशाली यंत्र बनाना चाहते थे। इसलिए उन्होंने संगठन की ओर भी ध्यान दिया था। अपने गुरु-भाइयों से वे कहा कहते थे, "तुम्हें अपने जीवन और मठ का गठन इसप्रकार करना होगा ताकि वह उदास और थके हुए लोगों के लिए शांति, आशा और प्रेरणा का स्रोत बन जाए। इसी आदर्श के अनुरूप तुम लोगों को अपने जीवन का निर्माण करना चाहिए।" स्वामी ब्रह्मानन्द के ही निर्देशन में सन् १८९८ में बेलुड़ मठ का निर्माण हुआ था तथा उन्हीं के प्रयासों के फलस्वरूप हिमालय और मद्रास में रामकृष्ण मिशन की शाखाएँ खोली गई थीं। इसी समय उन्होंने इंग्लैण्ड और अमेरिका में संन्यासियों को हिन्दू-धर्म का प्रचार करने के लिए भेजा था। किन्तु उन्हें अधिक समय तक स्वामी विवेकानन्द के साथ कार्य करने का अवसर न मिला। कुछ ही वर्षों के उपरान्त स्वामी विवेकानन्द महासमाधि में लीन हो गए। यह

स्वामी ब्रह्मानन्द के लिए बहुत बड़ा आघात था। फिर भी उन्होंने अपरिसीम सहिष्णुता के साथ इस दुःख को झेला और वे स्वामी विवेकानन्द की योजनाओं को मूर्त रूप प्रदान करने में लग गए।

स्वामी ब्रह्मानन्द की कार्यप्रणाली बड़ी अद्भुत थी। कर्म का रहस्य बताते हुए उन्होंने कहा था, "अपने मन को ईश्वर के चरणों में पूरी तरह से समर्पित कर दो। जब तुम अपनी मानसिक शक्ति का अपव्यय रोक लोगे तो तुम मन के थोड़े से योग से ही इतना कार्य कर लोगे कि उसे देखकर संसार चकित हो जाएगा।" यह संदेश स्वामीजी के जीवन में पूरी तरह से उतरा हुआ था। उनका मन निरन्तर ईश्वर में लगा रहता था। उनके अर्धनिमीलित नयन और स्वर्गिक प्रशांति से युक्त वदन को देखने से ऐसा प्रतीत होता था कि वे इस लोक के निवासी नहीं हैं। फिर भी वे सभी प्रकार के कार्यों की जानकारी रखा करते थे तथा प्रत्येक आश्रमवासी के मन और स्वभाव की गति-विधियों से परिचित रहते थे। वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। एक ओर यदि भवन-निर्माण योजना के अन्तर्गत उनके विचार बेजोड़ रहते थे तो दूसरी ओर उन्होंने शिक्षा के सम्बन्ध में क्रान्तिकारी और मौलिक धारणा प्रस्तुत की थी। उनकी महानता के सम्बन्ध में स्वामी सारदानन्द ने एक युवक भक्त से कहा था, "मेरी बात झूठ हो सकती है किन्तु महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) के वचनों पर संदेह करना पाप है।

स्वामीजी ने उत्तर और दक्षिण भारत की अनेक बार यात्राएँ की और अनेक स्थानों पर श्रीरामकृष्ण आश्रम की स्थापना की। वे जानते थे कि आध्यात्मिक प्रेरणा के अभाव में लोक-सेवा का कार्य कर्त्ता में मिथ्या अहंकार की सृष्टि करता है। वे चाहते थे कि रामकृष्ण मिशन के सदस्य आध्यात्मिकता और लोक-सेवा के मध्य तालमेल बैठा लें। एक बार वे आश्रमवासियों के साथ इसी विषय पर चर्चा कर रहे थे। इतने में एक युवक साधु ने कहा, "हमें इतना अधिक कार्य करना पड़ता है कि ध्यान के लिए समय ही नहीं बचता।" यह सुनकर स्वामीजी ने उन्हें झिड़कते हुए कहा, "छिः छिः बेटा! तुम्हें ऐसी बात कहने में लज्जा आनी चाहिए। तुम तो सन्यासी हो। तुम्हें कार्याधिक्य की शिकायत ही नहीं करना चाहिए। असल में, कार्याधिक्य तो नहीं, पर मन के कुविचार ही ध्यान करने में बाधा पहुँचाते हैं। इस एक जीवन को स्वामी जी विवेकानन्दजी के कार्य के लिए उत्सर्ग कर दो न, भले ही तुम इसे अपनी हानि ही क्यों न समझो। क्या तुमने इसके पहले हजारों बार जन्म धारण नहीं किया है? यदि तुम उनके उद्देश्य की सिद्धि के लिए स्वयं को पूरी तरह समर्पित कर दोगे तो उनकी कृपा से तुम्हारी आध्यात्मिक प्रगति एक रॉकेट की गति से होने लगेगी।" अन्य अवसर पर दूसरे भक्त से उन्होंने कहा था, "स्वामीजी के प्रति कृतघ्न न बनो। उन्होंने तुम्हारे और तुम्हारे देश के लिए मरते दम तक कार्य किया है। उनका कार्य करके ही तुम उनसे उऋण हो सकते हो।"

स्वामीजी आश्रमवासियों की आध्यात्मिक प्रगति की ओर बहुत ध्यान देते थे। वे जानते थे कि मन को पूरी तरह से ईश्वर में निमज्जित किए बिना निष्काम कर्म करना असम्भव है। वे आश्रमवासियों से कहा करते थे, "संसार का त्याग करके और स्वजनों के स्नेह पर कुठाराघात करके भी यदि तुम अपनी सारी शक्ति ईश्वर की ओर नहीं लगा सकते तो तुम्हें धिक्कार है।" वे ईश्वरोपलब्धि को ही अपने जीवन का चरमलक्ष्य बनाने का आग्रह करते थे। उनका कथन था कि "तुम्हें अपने प्रत्येक प्रयत्न से असंतुष्ट होना चाहिए। तुम्हें अपने-आप से प्रश्न करना चाहिए कि क्या तुम अपनी समस्त शक्ति को अपने आध्यात्मिक कल्याण के लिए लगा रहे हो? तुम्हें रात को स्वयं से पूछना चाहिए कि तुमने कितना समय ईश्वर के चिन्तन में व्यतीत किया है और कितना समय अन्य बातों में लगाया है। जितने समय तक तुम ईश्वर विमुख रहे उतना समय तो नष्ट हो गया—व्यर्थ चला गया।" आश्रमवासियों की आध्यात्मिक प्रगति पर बल देने के बाद भी मिशन का कार्य सुचारू रूप से चलता ही रहा।

यद्यपि स्वामी ब्रह्मानन्द आध्यात्मिक वार्ताओं से बचा करते थे फिर भी उनके समीप उपस्थित होने से ही लोगों के समस्त संदेह मिट जाया करते थे। वे रामकृष्णदेव के मानसपुत्र थे। शारीरिक दृष्टि से भी उनमें और श्रीराम-कृष्णदेव में अपूर्व समानता थी। इसीलिए सन् १९०८ में जब वे मद्रास के श्रीरामकृष्ण मठ में पहुँचे तब उनसे अन्य

भक्तों को परिचित कराते हुए स्वामी रामकृष्णानन्द ने कहा था, "तुम लोगों ने ठाकुर को नहीं देखा है। आओ, उनके पुत्र को ही देखकर अपना जीवन धन्य कर लो।" उन दिनों मद्रास में छुआछूत की प्रथा और ब्राह्मण-अब्राह्मण का विवाद बड़ा विकट था। एक दिन एक अब्राह्मण व्यक्ति ने स्वामीजी को भोजन के लिए आमंत्रित किया। स्वामी ब्रह्मानन्द तो उस भोज में गए ही, उनके साथ ब्राह्मण-अब्राह्मण सभी व्यक्ति सम्मिलित हुए। वहाँ छुआछूत और ब्राह्मण-अब्राह्मण का झगड़ा नहीं उठा।

स्वामी ब्रह्मानन्द नित्यसिद्ध थे। उनमें अपने आध्यात्मिक आवेगों को छिपा रखने की बड़ी शक्ति थी। पर कभी-कभी उनकी यह शक्ति जवाब दे जाया करती थी और प्लावनमयी सरिता के समान उनकी आध्यात्मिकता का प्रवाह जनसमूह को सराबोर कर दिया करता था। मदुरा में मीनाक्षी का दर्शन करते ही वे 'माँ' 'माँ' का मार्मिक उच्चारण करते हुए प्रतिमा की ओर चिरातुर शिशु के समान दौड़ पड़े थे। अयोध्या में भयंकर वर्षा में भी देवविग्रह का दर्शन करने के उपरान्त बहुत देर तक वे समाधिस्थ हो गए थे। उनका अपरिसीम प्रेम सभी को बलात् अपनी ओर खींच लेता था। सर्वभूतों के प्रति अगाध प्रेम ही उनके आकर्षणमय व्यक्तित्व का रहस्य था।

स्वामी ब्रह्मानन्द ने बहुत समय तक दीक्षा देने का कार्य नहीं किया। किन्तु कालान्तर में वे इस सम्बन्ध में बहुत उदार हो गये थे। जब वे अपनी अंतिम मद्रास यात्रा से

वापस लौटे तब वे कलकत्ता में श्री बलराम बोस के घर पर निवास कर रहे थे। वहीं उनपर विशूचिका का आक्रमण हुआ। यह रोग मानों उनकी मुक्ति का सूचक था। श्रीराम-कृष्णदेव कहा करते थे कि जब राखाल यह जान जायगा कि वह कृष्ण का अन्तरंग सखा है तो वह अपना शरीर त्याग देगा। अन्तिम दिनोंमें वे बार-बार इसी का उल्लेख करते रहे। शिष्यों और गुरुभाइयों के कठोर परिश्रम के बावजूद १० अप्रैल सन् १९२२ को उनकी आत्मा ईश्वरीय आलोक में लीन हो गई।

वे ब्रह्मानन्द थे। स्वामी विवेकानन्द हिमालय के समान संसार पर टूट पड़े थे और तीव्र आँधी के समान उन्होंने संसार के एक कोने से दूसरे कोने तक अपने संदेश का प्रचार कर दिया था। उनका जीवन गति का प्रतीक था। स्वामी ब्रह्मानन्द विलक्षण धैर्य और स्वर्गिक प्रशांति की प्रतिमूर्ति थे। उन्होंने स्वामी विवेकानन्द के संदेश को भारतीय भूमि में अपनी प्राणवारि सींचकर पल्लवित किया था। स्वामी विवेकानन्द संसार पर एक हुँकार के समान छा गये थे। स्वामी ब्रह्मानन्द का जीवन ओस की उन बूँदों के समान था जो निभृत रजनी में चुपचाप, अनजाने धरती पर गिरा करती हैं और शत-शत पुष्प-कलिकाओं को विकसित कर संसार को वसंत के आगमन का संदेश सुनाती हैं।

न मे भक्तः प्रणश्यति

(गतांक से आगे)

श्रीमत् स्वामी बुधानन्दजी महाराज, रामकृष्ण मिशन, न्यूयार्क

पाँच

श्री भगवान् की यह घोषणा कि उनके भक्तों का नाश नहीं होता, संसार में सर्वत्र यथार्थ भक्तों के जीवन में बारम्बार खरी उतरी है।

पुराणों में, विशेष रूप से, श्रीमद्भागवत में प्रह्लाद की कथा आती है जो उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि करती है।

हिरण्यकशिपु दैत्यों का अधिपति था। प्रह्लाद उसका पुत्र था। यद्यपि दैत्यों और देवताओं के पूर्वज एक थे, तथापि उन दोनों में अविराम युद्ध होते रहते थे। दैत्यों का कहना था कि देवताओं ने समस्त यज्ञाहुतियों का एकाधिकार अपने पक्ष में ले लिया है और संसार का शासन-सूत्र भी वे अपने ही हाथों रखना चाहते हैं। इसलिये स्वाभाविक ही दैत्यगण देवताओं पर रुष्ट थे। उन दोनों दलों के युद्ध में कभी दैत्य बाजी मार ले जाते और कभी देवतागण। एक बार ऐसा हुआ कि देवताओं को मुँह की खानी पड़ी और प्रबल असुरों ने देवगणों को स्वर्ग से खदेड़ दिया। तब सर्वशक्तिमान भगवान् विष्णु देवताओं

की सहायता के लिए दौड़े आये और उनके प्रताप से देवगण किसी प्रकार अपनी खोई प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त कर सके। किन्तु कालान्तर में पुनः देवों का पराभव हुआ और दैत्यराज हिरण्यकशिपु तीनों लोकों का एकछत्र सम्राट् बन गया। उसने देवताओं को स्वर्ग से निकाल बाहर कर दिया। किन्तु इतने से उसकी महत्त्वाकांक्षा पूरी न हुई। उसने घोषणा कर दी कि वही सचराचर विश्व का एक मात्र ईश्वर है और इसलिए सारी पूजा उसी को मिलनी चाहिए। साथ ही उसने यह भी कड़ी मुनादी पिटवा दी कि त्रिलोक में कोई भी विष्णु की किसी प्रकार की पूजा न करे।

भाग्य की गति बड़ी विचित्र होती है! इस अतुल पराक्रमी दैत्यराज हिरण्यकशिपु का पुत्र प्रह्लाद विष्णु की भक्ति लेकर जन्मा। हिरण्यकशिपु ने बड़े क्षोभ के साथ देखा कि जिस पाप को तीनों लोकों से निकाल देने का उसने व्रत लिया है, वही पाप उसके अपने परिवार में, उसी के पुत्र में जड़ें जमा रहा है। उसने गम्भीर विचार किया और इस निश्चय पर पहुँचा कि केवल शिक्षा के द्वारा ही उसके पुत्र का विष्णुभक्ति का रोग दूर हो सकता है। अतः उसने प्रह्लाद को षण्ड और अमर्क नामक दो कठोर अनुशासनप्रिय शिक्षकों के सुपुर्द कर दिया और उन्हें कड़ी ताकीद दे दी कि प्रह्लाद के पास विष्णु का नाम तक न फटके।

प्रह्लाद को गुरुकुल भेजा गया। वहाँ उसे अन्य विद्यार्थियों के साथ रहकर पढ़ाई करनी थी। किन्तु इस बात

का पता बहुत जल्दी चल गया कि प्रह्लाद की पढ़ने में कोई दिलचस्पी नहीं है। वह सदैव अपने साथियों को विष्णु की पूजा करने की विधि सिखाता रहता था। प्रह्लाद को ऐसा करने से रोका गया। किन्तु भगवान् की पूजा तो उसके स्वभाव का एक अंग बन गई थी। उसे छोड़ना प्रह्लाद के लिये बिना साँस लिये जीने से भी कठिन था। जब दोनों शिक्षक उसे पूजा से विरत करने का प्रयत्न करके हार गये तब उन्हें बड़ा भय हुआ और उन्होंने अपनी जान बचाने की चिन्ता की। वे दैत्यराज के पास पहुँचे और उसे सब हाल-चाल बताया। उन्होंने कहा कि न केवल प्रह्लाद विष्णु का असाध्य भक्त है किन्तु वह अच्छे विद्यार्थियों को भी बहका रहा है जिन्होंने पहले कभी भगवान् की पूजा का नाम भी नहीं सुना था।

दैत्यराज के क्रोध की सीमा न रही। उसने तत्काल आज्ञा दी कि उसके पुत्र को उपस्थित किया जाय। पहले तो उसने बालक को समझाया और उसे फ़ुसलाते हुए कहा कि उसका पिता दैत्यराज ही एकमात्र ईश्वर है तथा उसी की पूजा करनी चाहिए। यद्यपि प्रह्लाद बहुत छोटा बालक था फिर भी उसने अपने दुर्दान्त पिता के सामने निडर होकर दृढ़ता के साथ यह घोषणा की कि विष्णु ही संसार के ईश्वर हैं तथा उन्हीं की पूजा करनी चाहिए। इसके साथ ही उसने अपने पिता को एक महत्त्वपूर्ण सुझाव दिया कि यदि कोई स्वयं के आवेगों को संयमित नहीं कर सकता तो भले ही वह संसार को जीत ले पर उससे कोई

लाभ नहीं होगा। अशासित मन ही हमारा सबसे बड़ा शत्रु है। अपने मन को जीतना ही सबसे बड़ी विजय है।

अहंकारी पिता को अपने पुत्र की बात बहुत खली। उसका क्रोध भभक उठा और उसने तत्काल उस बालक को मार डालने की आज्ञा दी। किन्तु तब वहाँ महाश्चर्य देखने को मिला। जब राक्षसगण अपने हथियारों से प्रह्लाद के शरीर पर वार करने लगे उस समय उसका मन विष्णु के ध्यान में इतना निमग्न था कि उसका बाल भी बाँका नहीं हुआ। यद्यपि यह देखकर दैत्यराज घबड़ा उठा किन्तु उसने अपना निर्णय नहीं बदला। उसने अन्य दूसरे उपायों का प्रयोग किया। उसने बालक को हाथी के पैरों से कुचल डालने की आज्ञा दे दी। किन्तु हाथी भी उस छोटे बालक के नन्हें शरीर को नहीं रौंद सका। तब और बहुत से उपाय काम में लाए गये। उसे पहाड़ पर से लुढ़का दिया गया, उसे जहर पिलाया गया, उसे धधकती आग में झोंक दिया गया, उसे कुँए में ढकेल दिया गया, उसे निराहार रखा गया और उसके लिए सम्मोहन का भी प्रयोग किया गया, फिर भी उस बालक को कोई हानि नहीं पहुँची। अंत में उसे अजगर से बाँध दिया गया और उसके ऊपर चट्टान रखकर उसे समुद्र के बीच में डुबो दिया गया ताकि वह निश्चित रूप से मर जाए।

इन परीक्षाओं में गुजरते हुए प्रह्लाद का विश्वास विष्णु पर अधिकाधिक बढ़ना ही जा रहा था। वह जब समुद्र के तल में ईश्वर का ध्यान करने लगा तब उसे अनु-

मूति हुई कि प्रभु उसकी आत्मा में ही बसे हुये हैं। वह और भगवान् दोनों एक हैं। भगवान् सभी जगह और सभी वस्तुओं में विद्यमान हैं। जैसे ही उसे यह आध्यात्मिक अनुभूति हुई वैसे ही उसके सर्प का बंधन खुल गया। वह समुद्र की सतह पर आ गया और तरंगों में उतराता हुआ सकुशल तट पर पहुँच गया। जब वह तट पर खड़ा हुआ तब अलौकिक आनन्द में लीन हो गया क्योंकि वह देख रहा था कि ईश्वर ही सभी वस्तुओं के बाहर-भीतर बसे हुए हैं।

दैत्यराज ने जब यह सुना कि प्रह्लाद की हत्या का अंतिम उपाय भी निष्फल हो गया है तब वह गहरे सोच में पड़ गया। उसने अपने पुत्र को बुलाया और उसपर मन के संस्कारों को निकालने की अचूक विधि का प्रयोग किया। पर उससे भी कोई लाभ नहीं हुआ। प्रह्लाद के हृदय और मन से विष्णु को निकालना उसी प्रकार असम्भव था जैसे कोयले से उसके कालेपन को निकालना। प्रह्लाद ने फिर से वैसा ही उत्तर दिया।

दैत्यराज अबतक यह जान गया था कि प्रह्लाद को मारा नहीं जा सकता। वह पुनः पुनः यह जानना चाहता था कि उसे सुधारा जा सकता है या नहीं। उसने सोचा कि शायद उम्र के बढ़ने पर और शिक्षा के द्वारा इसकी हठवादिता खत्म हो सकती है। इसलिए उसने फिर से अपने पुत्र को षण्ड और अमर्क के पास भेजा। अब उन्हें यह हिदायत दे दी गई कि प्रह्लाद को राजा के कर्त्तव्य

सिखाए जाएँ। किन्तु प्रह्लाद ने पुनः अध्ययन की ओर कोई रुचि नहीं दिखाई। वह हमेशा पूरी शक्ति के साथ अपने सहपाठियों को बिष्णु की पूजा की विधि सिखाता रहा। जैसे ही प्रह्लाद दैत्यराज के सामने लाया गया वैसे ही दैत्यराज गुस्से में पागल होकर विष्णु को अनाप-शनाप गालियाँ बकने लगा। उसने भगवान् को नष्ट करने की धमकी भी दी। प्रह्लाद अपने क्रोधित पिता के वचनों से तनिक भी विचलित नहीं हुआ। उसने कहा विष्णु ही संसार के ईश्वर हैं। वे अनादि और अनंत हैं। वे सर्वशक्तिमान और सर्व-व्यापी हैं। इसलिए वे ही पूजा के योग्य हैं।

दैत्यराज आपे से बाहर हो गया। उसकी चीख से दीवारें गूँजने लगीं। उसने पूछा, "अरे अधम ! यदि तेरा भगवान् विष्णु सर्वव्यापी है तो वह उस खम्भे में क्यों नहीं है ?" प्रह्लाद ने पूरे विश्वास से कहा, "वे तो वहाँ हैं ही।" दैत्यराज फिर गरजा, "यदि ऐसा है तो मैं उसे तलवार से मार डालता हूँ। देखूँ वह अपने को मुझसे कैसे बचाता है ?" यह कहकर वह पागलों के समान खम्भे की ओर दौड़ा और उसपर एक भरपूर वार किया। उसी क्षण सारा महल काँपने लगा और एक दिल दहला देने वाली आवाज सुनाई पड़ी। इसी के साथ विष्णु आधे नर और आधे सिंह का विकराल रूप धारण कर प्रकट हुए। उन्हें देखकर दैत्य-गणों को जिधर सूझा उधर ही सिर पर पैर रखकर भाग गये। किन्तु हिरण्यकशिपु ने हाथ में तलवार लेकर अना-हूत व्यक्ति को लड़ने की चुनौती दी। बड़ी देर तक विकट

लड़ाई लड़ने के पश्चात् भगवान् नृसिंह ने हिरण्यकशिपु का वध कर डाला।

हिरण्यकशिपु से लड़ने के बाद भगवान् प्रह्लाद की ओर मुड़े और अत्यन्त कोमल स्वर में बोले, "प्रह्लाद ! तुम्हारी क्या इच्छा है? मैं तुम्हें वरदान दूँगा। तुम मेरे अत्यन्त प्रिय बालक हो। इसलिए तुम्हारी जो इच्छा हो, माँगो।" प्रह्लाद भावविगलित कण्ठ से बोला, "प्रभु, मुझे आपके दर्शन हो गए। यही मेरे लिए बहुत है। कृपाकर मुझे लौकिक और पारलौकित वैभवों की ओर आकर्षित मत कीजिए।

भगवान् ने पुनः अनुरोध किया, "पुत्र ! तुम कुछ तो माँगो।" तब प्रह्लाद ने कहा, "भगवन् ! यदि आप मुझे कुछ देना ही चाहते हैं तो मुझे आपके चरणों में उसप्रकार का प्रगाढ़ प्रेम प्रदान कीजिए जिसप्रकार का प्रेम अज्ञानी व्यक्ति सांसारिक वस्तुओं से करता है। मैं आपसे इसी प्रकार प्रेम करूँ। मेरा प्रेम आपके प्रति वैसा ही प्रगाढ़ हो। मैं आपसे निष्काम भाव से प्रेम कर सकूँ।" तब भगवान् ने कहा, "प्रह्लाद ! ऐसे तो मेरे भक्त इहलोक और परलोक के लिए किसी भी वस्तु की कामना नहीं करते फिर भी तुम्हें मेरी आज्ञा से एक कल्पान्त तक संसार के आनन्द उपभोग करना होगा। तुम्हारा हृदय सदा मुझमें लगा रहेगा और तुम एक आदर्श जीवन व्यतीत करोगे। समय समय आने पर जब तुम शरीर का त्याग कर दोगे तब तुम्हें मेरी ही प्राप्ति होगी।" इन शब्दों को कहकर श्रीभगवान् अन्तर्धान हो गए।

छः

प्रह्लाद पुराणों के सर्वाधिक प्रिय पात्रों में से एक हैं। उन्होंने अपने अडिग विश्वास के द्वारा युगों से असंख्य भक्तों को प्रेरणा प्रदान की है। इसके अतिरिक्त वे भगवान् की इस प्रतिज्ञा के ज्वलन्त प्रमाण हैं कि उनके भक्त नष्ट नहीं होंगे। आधुनिक युग में हमारे जैसे युक्तिवादी लोगों को एक ऐसे पौराणिक चरित्र से प्रेरणा ग्रहण करना कठिन है जिसकी ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में हम प्रश्न करते हैं। यह हम लोगों के लिए स्वाभाविक ही है। किन्तु केवल प्रह्लाद ही भगवान् की कृपा का एकमात्र प्रमाण नहीं है। ऐतिहासिक युगों में ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं जो भगवान् की भक्त के प्रति की गई प्रतिज्ञा की गवाही देते हैं तथा जिनके सम्बन्ध में शंका करना असम्भव है। इसलिए, जैसा कि हमने पूरे विश्वास के साथ पहले कहा था कि यदि तुम भगवान् के भक्त हो तो तुम्हारे पास इस मनहूस दुनिया में आनन्द से रहने का एक कारण है; इस भयातुर संसार में निर्भीक होकर रहने का तुम्हारे पास एक कारण है; चिन्ता और दुःख की ज्वाला में सतत जलनेवाले इस संसार में निश्चिन्त होकर रहने का तुम्हारे पास एक कारण है। और, वह कारण कौन सा है?—यही, यह आश्वासन कि भगवान् के भक्तों का नाश नहीं होगा।

परन्तु आनन्द प्राप्त करने से पहले व्यक्ति को स्वयं से यह विचलित कर देने वाला प्रश्न पूछना चाहिए कि क्या

मैं आनन्द पाने के योग्य हूँ ? या, अन्य शब्दों में, क्या मैं यथार्थ में भगवान् का भक्त हूँ ? सच्चे भक्त की कसौटी क्या है ? 'भक्त' शब्द की सर्वाधिक उदार व्याख्या करते हुए श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं—

"चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो, जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ ७।१६

—"हे अर्जुन ! चार प्रकार के भक्तजन मुझे भजते हैं। एक तो आर्त, जो विपदा में पड़ता है; दूसरा जिज्ञासु, जो ज्ञान पाना चाहता है; तीसरा अर्थार्थी जो भोगों की कामना करता है; और चौथा ज्ञानी ।"

विपदा में पड़ने वाले, ज्ञानप्राप्ति की जिज्ञासा रखने वाले और भोगों की कामना करने वाले सभी व्यक्ति भगवान् की पूजा नहीं करते । केवल भाग्यवान् व्यक्ति ही भगवान् की शरण में आते हैं । यद्यपि इन तीन प्रकार के व्यक्तियों की पूजा निष्काम नहीं होती फिर भी श्रीकृष्ण इन्हें अपने भक्त के रूप में स्वीकार करते हैं । वे आगे कहते हैं—

"तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानीनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।।७।१७

—"इन चारों में मुझ भगवान् के साथ सदा संयुक्त और विशुद्ध अहैतुक अनन्य प्रेम सम्पन्न ज्ञानी भक्त सबसे उत्तम है । क्योंकि मैं ज्ञानी को अत्यन्त प्रिय हूँ और वह भी मुझे अत्यन्त प्रिय है ।" वे पुनः कहते हैं-

"उदाराः, सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ।।७।१८

—"भगवान् का भजन करने के कारण यद्यपि ये सभी उदार हैं किन्तु ज्ञानी तो साक्षात् मेरी आत्मा ही है-ऐसा मेरा मत है क्योंकि यह मद्गत मन-बुद्धि वाला ज्ञानी भक्त मुझ भगवान् को ही परम गति मानता हुआ मुझमें अच्छी तरह से स्थित है।"

इस प्रकार हम देखते हैं भक्तों की भी कोटियाँ होती हैं। एक प्रकार के भक्त भगवान् की सकाम-भाव से पूजा करते हैं। दूसरे प्रकार के भक्त भगवान् को निष्काम भाव से भजते हैं तथा उनसे अहैतुकी प्रेम करते हैं। ये भक्त पहली कोटि के भक्तों से अलग होते हैं। श्रीरामकृष्णदेव कहते हैं, "ईश्वर तो निश्चित रूप से सभी में विद्यमान हैं। तब भक्त किसे कहेंगे ? भक्त वह है जिसका मन भगवान् में लगा रहता है। किन्तु जब तक अहंकार और दर्प बना रहता है तब तक ऐसी स्थिति असम्भव है।"

"वचनामृत" में श्रीरामकृष्णदेव ने सच्चे भक्त के तीन लक्षण बताए हैं। पहला यह कि गुरु के वचनों को सुनते समय उसका मन शान्त रहता है। दूसरे, वह आदेशों को समझने की शक्ति का विकास करता है; और तीसरे, उसकी इंद्रियाँ संयमित होती हैं तथा उसकी भोगों के प्रति आसक्ति नष्ट हो जाती है।

गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं, "ईश्वर की दृष्टि में सभी समान हैं। उनकी दृष्टि में न तो कोई प्रिय है और न कोई अप्रिय।" इसके साथ वे यह भी कहते हैं कि "जो मेरी भक्ति से पूजा करता है वह मुझमें निवास करता है और

मैं उसमें निवास करता हूँ।" और यहीं, हमें भक्त की अविनश्वरता का प्रमाण मिलता है। जिस भक्त की इन्द्रियां संयमित हैं, जिसने अपनी वासनाओं को नष्ट कर लिया है और जिसका हृदय अहंकार और दर्प से रहित है, ईश्वर उसीके अंतराल में निवास करते हैं। भक्त अपने हृदय में भगवान् के लिए जितना अधिक स्थान बनाता है, उतना ही अधिक वह अविनाशी होता है।

हमें 'नाश नहीं होगा' शब्दों के अर्थ को भी स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए। क्या भक्त की मृत्यु नहीं होगी ? वह तो अवश्य मरेगा। वह अन्य सामान्य व्यक्तियों से जल्दी भी मर सकता है। श्रीमत् शंकराचार्य का देहावसान बत्तीस वर्ष की आयु में ही हो गया था। स्वामी विवेकानन्द ने उनचालीस वर्ष में ही देहत्याग कर दिया था। क्या भक्त को कष्ट नहीं सहना पड़ता ? वह कष्ट सह भी सकता है और नहीं भी हो सकता है, उसे दूसरों से अधिक कष्ट सहना पड़े। सुकरात बड़ा सज्जन व्यक्ति था। क्या आप उसे आध्यात्मिक नहीं मानते ? पर विष ने उसपर अपना पूरा प्रभाव डाला। स्वर्ग में रहने वाले पिता ने अपने पुत्र को सूली पर चढ़ते और कीलों से ठुकते देखकर भी उसकी रक्षा के लिए कानी उँगली तक नहीं बढ़ाई। श्रीरामकृष्णदेव की जगन्माता ने उनके गले के घाव को ठीक करने के लिए कुछ भी नहीं किया, यद्यपि भक्तों ने जगदम्बा से बहुत प्रार्थना की थी। हिन्दुओं के महान् धर्मग्रन्थ श्रीमद्भागवत में भगवान् दिल दहला देनेवाली

प्रतिज्ञा करते हैं कि "जिसपर मैं कृपा करता हूँ उसे मैं क्रमशः धनहीन बना देता हूँ। और, जब वह इस प्रकार दरिद्र होकर दुःख भोगने लगता है तब उसके स्वजन ही उसे त्याग देते हैं।"

अतः भक्ति के द्वारा कष्ट से मुक्त होने की कोई आशा नहीं है। और, भक्त को ही जीवन की सामान्य वस्तुओं में विशेष छूट क्यों मिले? असल में, जब हमारी आध्यात्मिक मेधा का विकास होता है तब हम कष्ट में एक नया अर्थ पाते हैं। श्रीरामकृष्णदेव की लीला-सहधर्मिणी श्री श्री माँ ने बड़ी महत्वपूर्ण बात कही थी, "प्रत्येक व्यक्ति हताश होकर कहता है कि 'संसार असंख्य दुःखों से भरा है। हमने भगवान् से इतनी प्रार्थना की है फिर भी हमारे दुःखों का अन्त नहीं होता।' किन्तु दुःख तो भगवान् का वरदान है। वह उनकी कृपा का प्रतीक है।" हमें इसे स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए। भगवान् के उन महान् भक्तों को भी, जिनका नामोच्चार मात्र ही हमें पवित्र बना देता है अपने जीवन में सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक दुःख सहना पड़ा था। अतः ऐसा सोचना सच्ची भक्ति का लक्षण नहीं है कि मैं भक्त हूँ इसलिए भगवान् मेरे शारीरिक रोगों को दूर कर देंगे, या मेरी तनखा बढ़वा देंगे, या मेरी शक्ति में वृद्धि कर देंगे, या मुझे चुनाव में विजयी बना देंगे, या मेरे प्रेम में मुझे सफल बना देंगे, अथवा मेरे शत्रुओं को नष्ट कर देंगे या मुझे सम्मानित लोकप्रिय या सम्पन्न बना देंगे। यह तो पाखण्ड पूर्ण भौतिकतावाद है।

सच्चा भक्त भगवान् को अपनी इच्छाओं को पूरा करने के लिए नहीं कहता। वह भगवान् से अहैतुकी प्रेम करता है। भगवान् उसे जो कुछ भी प्रदान करते हैं वह उसे आशीर्वाद समझकर ग्रहण करता है।

एक संत को जब सर्प ने डस लिया तब वे स्नेह में गद्गद् होकर बोल उठे, "अहा, मेरे प्रियतम ने अपना दूत भेजा है।"

तब फिर भगवान् के भक्त का नाश किस अर्थ में नहीं होता? उसका नाश इस अर्थ में नहीं होता कि उसे दुःख और सुख प्रभावित नहीं कर सकते। उसका नाश इस अर्थ में नहीं होता कि वह क्रोध, भय, घृणा, स्वार्थ, मोह और लोभ से भरे संसार में भी सद्गुणों को प्रकाशित करता है। उसका नाश इस अर्थ में नहीं होता कि ईश्वर के प्रति प्रबल प्रेम के कारण संसार की वस्तुओं पर उसकी आसक्ति नहीं रहती, वह जीवन के प्रति अभिनिवेश की भयानक प्रवृत्ति से छूट जाता है और उसे मृत्यु से भय नहीं होता। उसका नाश इस अर्थ में नहीं होता कि वह अपने कार्यों को और उनके फल को भगवान् के चरणों में अर्पित कर देता है। इससे वह कर्म के बंधन में नहीं बँधता जिसके कारण जन्म और मृत्यु तथा उनके सहगामी दुःखों के चक्र में पड़ना पड़ता है। उसका नाश इस अर्थ में नहीं होता कि जीवन भर भगवान् से अटूट सम्बन्ध रखने के कारण वह मृत्यु के समय भगवान से युक्त हो जाता है। भगवान् से युक्त होने के कारण वह स्वाभाविक रूप से भगवान् के समान अविनाशी बन जाता है।

भगवान् ने जो यह प्रतिज्ञा की है कि उनके भक्त का नाश नहीं होगा, वह हमारे युग में और भविष्य में, व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से अत्यधिक महत्ता रखती है।

जब हम भयहीन, चिन्तारहित एवं आनन्दपूर्ण जीवन बिताना चाहते हैं तब इसकी पूर्ति के लिए भगवान् की भक्ति के अतिरिक्त कोई दूसरा विकल्प नहीं है। किन्तु सच्ची भक्ति आवश्यक है। यदि व्यक्ति का जीवन पवित्र हो और वह भगवान् से प्रेम करता हो तो वह इस घिनौने और जलनशील संसार में भी धन्य हो सकता है।

यह बात मानवता के लिए बहुत महत्ता रखती हैं कि भगवान् से प्रेम करने पर व्यक्ति कौन से कार्य करता है और भगवान् से प्रेम करने के कारण वह क्या नहीं करता। यही प्रेम जीवन को अर्थपूर्ण बनाता है, मृत्यु को नई महत्ता देता है और मरणोत्तर जीवन को विस्मयकारक बना देता है; क्योंकि सत्य ही भगवान् के भक्त का नाश नहीं होता।

—'वेदान्त फार ईस्ट एंड वेस्ट' से साभार

धर्म

राय साहब हीरालाल वर्मा, रिटायर्ड डिपुटी कमिश्नर

धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ धारण करना है; परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि जो कुछ भी धारण किया जाय वही ठीक धर्म है। वैशेषिक शास्त्र के कर्त्ता, कणाद मुनि ने धर्म की व्याख्या इस प्रकार की है:–

"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः"

अर्थात्, जिससे इस लोक और परलोक, दोनों में सुख मिले उसी का धारण करना धर्म है।

महाभारत के अनुशासन-पर्व के २६५ वें अध्याय में लिखा है:—

"लोकयात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियमः कृतः।
उभयत्र सुखोदर्क इह चैव परत्र च॥"

अर्थात्, लोकस्थिति के निर्वाह के लिए ही धर्म का नियम किया गया है। वह धर्म इसलोक और परलोक में भी परिणाम में सुख देने वाला होना चाहिये।

इस व्याख्या की पुष्टि चतुर्वर्ग संग्रह में भी इस प्रकार की गई है:—

"धर्मः शर्म परत्र चेह च नृणां धर्मोऽन्धकारे रविः,
सर्वापत्प्रशमक्षमः सुमनसां धर्माभिधानो निधिः।
धर्मो बन्धुरबान्धवे पृथुपते धर्मः सुहृन्निश्चलः,
संसारोरुमरुस्थले सुरतरुर्नास्त्येव धर्मात्परः॥"

अर्थात्, इसलोक और परलोक में भी कल्याण करने-वाला धर्म ही है; बड़े बड़े अंधकार में भी धर्म ही प्रकाश करने वाला है। सत्पुरुषों की सब विपत्तियों को दूर करने वाला धर्म ही निधि है; बिना बान्धवों के पारलौकिक महा-यात्रा में धर्म ही एक बन्धु है और धर्म ही एक निश्चल मित्र है। संसार रूपी मरुस्थल में धर्म से बढ़कर और कोई कल्पवृक्ष नहीं है।

गौतम धर्मसूत्र में लिखा है :—

"यत्त्वार्याः क्रियमाणं प्रशंसन्ति स धर्मो
यद्विगर्हन्तः सोऽधर्मः।"

याने, जिस किये हुए कर्म की आर्य (श्रेष्ठ) लोग प्रशंसा करते हैं, वह धर्म है और जिसकी निन्दा करते हैं, वह अधर्म है।

मनुस्मृति २।१-१२ में धर्म की व्याख्या करते हुए बतलाया है :—

"विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः,
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत।
वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः,
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥"

अर्थात्, सच्चे और रागद्वेष से रहित विद्वानों से जो सेवित किया गया है एवं हृदय से जिसे स्वीकार किया गया है, वह धर्म है। धर्म के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान श्रुति (वेद), स्मृति (धर्मशास्त्र), शिष्ट पुरुषों के सदाचार और अपने आत्मा की प्रियता से ही होता है।

ऊपर दी गई परिभाषाओं से विदित होगा कि हिन्दू-धर्म किसी एक शास्त्र या पुस्तक में लिखे हुए नियमों को मानने के लिए सीमाबद्ध नहीं है। उसका क्षेत्र बहुत विस्तृत है। उसने तो यहाँ तक कह दिया है कि अपने अन्तःकरण में जो भलाई या बुराई का निर्णय हो, उसी का मानना धर्म है। ऐसी अवस्था में हिन्दुस्थान में अनेक मतों और संप्रदायों का फैलाव होना कोई आश्चर्य की बात न थी और न है। दूसरे देशों में भी अनेक धर्मों का प्रचार है, और उनमें परिवर्तन होता रहता है। किसी एक अंग्रेज कवि ने कहा है कि "नया धर्म पुराने धर्म की जगह ले जाता है, क्योंकि परमेश्वर यह नहीं चाहता कि एक नियम जो किसी एक परिस्थिति के लिये अनुकूल हो, वह समय पाकर और बिगड़कर जगत् को गंदा कर दे।" प्रश्न यह है कि यदि धर्म अनेक हैं और उनमें विभिन्नता है, तो हमारा ठीक कर्त्तव्य क्या है ? इसका निर्णय करने के लिए कोई साधन या उपाय है या नहीं ? इस विषय में हिन्दू शास्त्रों में समझाया है कि पहिले अपने धर्म के नियमों को अच्छी तरह समझो, फिर यदि उसमें किसी प्रकार की शंकाएँ उत्पन्न हों, तो दूसरे शास्त्रों में दिये हुए उसी विषय पर जितने पक्ष हों, उनका अध्ययन करके सत्-असत् का निर्णय करो।

आजकल इस जगत् में चार मुख्य जीवित धर्म हैं। (१) आर्य-धर्म; जिसमें जैन, बौद्ध और सिक्ख धर्म भी मिलाये जा सकते हैं; (२) ईसाई-धर्म; (३) इस्लाम-धर्म और (४) पारसी धर्म। इनमें प्राचीनता की दृष्टि से आर्य-धर्म

सबसे पुराना है और उसके मानने वाले भी संसार में सबसे अधिक हैं। संख्या के अनुसार दूसरा स्थान ईसाई-धर्म का है; फिर इस्लाम-धर्म का और चौथा पारसी-धर्म का। आर्य-धर्म में अनेक मत और संप्रदाय हैं; जैसे-वैष्णव, शैव, शाक्त, पाञ्चरात्र इत्यादि; और वैष्णव के अन्तर्गत कई संप्रदाय हैं, जैसे-रामानुज, माध्व, निम्बार्क, वल्लभ, चैतन्य, स्वामीनारायण इत्यादि। इसी तरह आर्य-दर्शन के प्रसिद्ध छः भाग हैं, जिन्हें षड्दर्शन कहते हैं, और जिनके नाम हैं, न्याय, वैशेषिक सांख्य, योग, मीमांसा, और वेदान्त। अपने धर्म की श्रेष्ठता समझने के लिये इन प्रधान मतो के सिद्धान्तों का सूक्ष्म सार नीचे दिया जाता है:—

न्याय:—इस दर्शन में बतलाया गया है कि आन्तरिक और बाहरी जगत् का ज्ञान आत्मा को किस रीति से होता है। इसके मत में ईश्वर निराकार, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और जगत् का निमित्त कारण है। जीव प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है, और वह विभु तथा नित्य है। पृथ्वी आदि पाँच भूतों के परमाणुओं से समस्त जगत् बना हुआ है। आत्मादि पदार्थों के ज्ञान से जीव को मोक्ष होता है और फिर वह लौटकर जगत् में नहीं आता।

वैशेषिक:—न्याय के अनुसार जगत् अणुओं के संयोग से बना है, जो अनन्त और असंख्य हैं। यह संयोग अदृष्ट शक्ति से होता है। इस दर्शन के अनुसार प्रत्येक अणु का एक विशेष तत्त्व माना जाता है। आत्मा नित्य द्रव्य है, जिसमें बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्माधर्म,

संस्कार आदि गुण निवास करते हैं। वह शरीर तथा इन्द्रियों से पृथक् होकर एक स्वतंत्र सत्ता धारण करने वाला द्रव्य है। मन भी आत्मा नहीं है। वह प्रति शरीर में भिन्न होने के कारण अनेक, क्रियाकारिता होने से मूर्त तथा अणु परिमाण माना जाता है। जिस इन्द्रिय के साथ मन का संयोग होता है, उसी के द्वारा विषय का अनुभव होता है। यदि मन में विभुत्व होता, तो वह एक ही काल में सब इन्द्रियों के साथ संयुक्त हो सकता और कई विषयों का एक साथ अनुभव करता, परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता। गुण द्रव्यों में आश्रित रहते हैं, पर क्रिया से रहित होते हैं। कर्म गुण से भी भिन्न हैं। ज्ञान का स्थान आत्मा है। इसके दो प्रकार हैं; जीवात्मा और परमात्मा। यह सर्वव्यापी है।

सांख्य :—यह दर्शन द्वैतवादी है। उसकी दृष्टि में प्रकृति और पुरुष द्विविध मूल तत्त्व हैं, जिनके सम्बन्ध से इस जगत् का आविर्भाव होता है। प्रकृति जड़ात्मिका तथा एक है; परन्तु पुरुष चेतन तथा अनेक हैं। जगत् के समग्र पदार्थ, सुख, दुःख, मोहात्मक हैं। सत्त्व, रज और तम, इन तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। पुरुष इन गुणों से अतीत है। प्रकृति पुरुषों के संयोग से सृष्टि उत्पन्न करती है। आत्मा से बुद्धि बनती है, उससे अहंकार और मन बनते हैं। मन से पाँच ज्ञानेन्द्रिय, फिर पाँच कर्मेन्द्रिय, फिर इनके पाँच तत्त्व बनते हैं। इस तरह पाँच महाभूतों को मिलाकर २५ संख्याएँ होती हैं। इसी से इस दर्शन का नाम सांख्य हुआ। आत्मा और प्रकृति के संयोग से पाप, दुःख

और अनेक उपद्रव होते हैं। प्रकृति की निवृत्ति हो जाने से मुक्तावस्था की प्राप्ति होती है। विवेक-ज्ञान हो जाने पर इसी जीवन में मुक्ति का अनुभव हो जाता है।

योग—यह शास्त्र सांख्य की एक शाखा के समान है। कठोपनिषद् में बतलाया है कि जब ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ आत्मा में स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि भी जब किसी प्रकार चेष्टा नहीं करती, तब उस परम गति का नाम योग है। योग शब्द का अर्थ है, चित्त को रोकना। इसके आठ साधन हैं; यम, नियम, आसन, प्राणामाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। योग को भी सांख्य के २५ तत्त्व, (याने १ प्रकृति, ५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय, ५ महाभूत, १ मन; १ महतत्व, १ अहंकार, ५ तन्मात्रा और १ पुरुष) अभीष्ट हैं; केवल ईश्वर तत्त्व अधिक है। योग की उपयोगिता प्रत्येक शास्त्र स्वीकार करता है, और उसका सन्मान अब पाश्चात्य जगत् में भी होने लगा है।

मीमांसा—इस शब्द का अर्थ है जिज्ञासा या खोज। इसमें वेद और उसके ठीक अर्थ को जानना यही धर्म है। इसमें कर्मकाण्ड को मुख्य माना है। इसका सिद्धान्त है, "कर्म करो और उसे इश्वर के अपर्ण करो"। मीमांसा जगत्-प्रपंच की नित्यता को स्वीकार करता है। उसकी दृष्टि में आत्मा कर्त्ता तथा भोक्ता दोनों हैं, और वह व्यापक होते हुए भी प्रत्येक शरीर में भिन्न है। उसे शरीर द्वारा सुख, दुःख का अनुभव होता है; इन्द्रियों द्वारा उनका

भोग करता है और उन्हीं के द्वारा बाह्य वस्तुओं का उसे ज्ञान होता है। ईश्वर के बारे में प्राचीन मीमांसा ग्रन्थों में मतभेद है। कोई तो उसकी सत्ता ही नहीं मानता और कहता है कि कर्मफल की प्राप्ति यज्ञों द्वारा होती है। कोई कहता है कि ईश्वर कर्मफल का दाता है, इसलिये इन फलों को उसे समर्पित कर देना चाहिए।

वेदान्त—यह भारतीय अध्यात्म-शास्त्र का मुकुटमणि है। इसका मूलमंत्र है, परमार्थ सत्ता-रूप ब्रह्म की एकता और अनेकात्मक जगत् की मायिकता। छान्दोग्य उपनिषद् (३-१४) में बतलाया है कि यह सारा जगत् ब्रह्म ही है। आत्मा ज्ञान-रूप तथा ज्ञाता और नित्य है। उसी निर्विकार सत्ता का नाम ब्रह्म है। ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण है। वह एक है, और इस कारण उसका कोई विशेषण नहीं। सत्य, ज्ञान और आनन्द उसके लक्षण हैं। ब्रह्म जगत् की रचना अपनी माया द्वारा करता है यह माया एक अनिर्वचनीय शक्ति है, जो न सत् न असत् कही जा सकती है। जब निर्विशेष ब्रह्म माया के द्वारा अवच्छिन्न होने पर सविशेष या सगुण भाव को धारण करता है, तब उसे ईश्वर कहते हैं। ईश्वर जगत् का निमित्त और उपादान कारण दोनों ही है। अद्वैतवादियों के मत में सृष्टिरचना के संबंध में 'आरम्भवाद' तथा 'परिणामवाद' दोनों ठीक नहीं। जगत् ब्रह्म का विवर्त है, कार्य नहीं। कारण ही एक मात्र सत्य है, कार्य मिथ्या है। आत्मा स्वभाव से नित्यमुक्त है; परन्तु वह 'अध्यास' के कारण

संसार में बँधा हुआ सा दिखाई देता है। इसी अध्यास या अध्यारोप का निवारण करने के लिए आत्मविद्या का प्रतिपादन करना वेदान्त का प्रधान लक्ष्य है।

ऊपर बतलाए हुए षड्दर्शन श्रुतिमूलक होने से आस्तिक दर्शनों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। इनके अलावा भक्ति की कल्पना को महत्त्व देने वाले पाञ्चरात्र, शैव तथा शाक्त दर्शन भी मुख्य हैं, जो आगम की भित्ति पर अवलम्बित हैं। 'आगम्' वह शास्त्र कहलाता है, जिसके द्वारा भोग और मोक्ष के उपाय बुद्धि में आते हैं; और 'निगम' उसे कहते हैं, जिसमें कर्म, उपासना और ज्ञान की युक्तियाँ बतलाई गई हों।

पाञ्चरात्रः—यह वैष्णवागम भी कहलाता है। इस मत के अनुसार परब्रह्म अद्वितीय, दुःखरहित, निःसीमसुखानुभवरूप, अनादि और अनन्त है। वह सब प्राणियों में निवास करने वाला, समस्त जगत् को व्याप्त होकर स्थित होने वाला, निरवद्य तथा निर्विकार है। वह निर्गुण और सगुण दोनों ही है। जगत्-व्यापार के लिए उसमें ज्ञान, ऐश्वर्य, बल, वीर्य, शक्ति और तेज ये छः गुण कल्पित किये जाते हैं। भगवान् की शक्ति का नाम लक्ष्मी है।

जीव स्वभावतः सर्वशक्तिशाली, व्यापक तथा सर्वज्ञ तो है; परन्तु सृष्टिकाल में भगवान् की तिरोधान-शक्ति जीव को बद्ध कर देती है, जिससे उसे पूर्ण कर्मों के अनुसार जाति, आयु और भोग की प्राप्ति होती है। जीव के क्लेशों को देखकर भगवान् के हृदय में 'कृपा' का आविर्भाव

होता है; तब वह अपनी नैसर्गिक करुणा की वर्षा करने लगता है। इस दशा में जीव वैराग्य तथा विवेक को प्राप्त होकर मोक्ष की ओर स्वतः प्रवृत्त हो जाता है।

शैवमतः— तामिल प्रदेश में इस मत का अधिक प्रचार है। 'शिव' शब्द की उत्पत्ति 'वश कान्तौ' धातु से हुई, जिसका तात्पर्य यह है कि जिसको सब चाहते हैं, वह शिव है। इसी तरह 'शं' आनन्द को कहते हैं, और 'कर' से करने वाला समझा जाता है। अतएव जो आनन्द करने वाला है, वही शंकर है। निर्गुण ब्रह्म सृष्टि की उत्पत्ति, पालन और संहार के लिए ब्रह्मा, विष्णु और महेश का रूप धारण करता है; परन्तु तीनों एक ही वस्तु के अंग हैं। प्राचीन काल में शैवों और स्मार्तों में इस बात का बहुत झगड़ा होता रहता था कि 'विष्णु' और 'शिव' में बड़ा कौन है, परन्तु आजकल इन दोनों में कोई विशेष भेद नहीं माना जाता।

शैव सिद्धान्त के अनुसार पदार्थ केवल तीन होते हैं; याने पति (शिव), पशु (जीव) और पाश (मल कर्म)। शिव नित्य मुक्त हैं; और पशु, शिव के परतंत्र हैं। पशुओं के पाशक्षेपण के लिये ही शिव शरीर को धारण करते हैं। जब जीवों का मलपक्व हो जाता है, तब शिव उन्हें 'विद्येश्वर' पद प्रदान करते हैं, और उस समय उनकी मुक्ति हो जाती है। जब तक मल अपक्व रहता है, जीव संसार की नाना योनियों में कर्मानुसार भ्रमण किया करते हैं। मल का आवरण, ज्ञान, कर्म अथवा क्रिया द्वारा नहीं हटाया जा सकता; क्योंकि जीव में स्वतः कोई ऐसी सामर्थ्य नहीं,

जिससे पास को वह काट सके। जैसे नेत्र में जाली पड़ जाने से उसे आपरेशन द्वारा ही हटाया जा सकता है और वह भी जब जाली परिपक्व हो जाये, इसी तरह मल के पक्व हो जाने पर शिव की अनुग्रहशक्ति से ही जीव भवबन्धन से निर्मुक्त हो सकता है।

जगत् पहिले भी विद्यमान था। सृष्टिकाल में शिव उसका केवल प्रकटीकरण करते हैं। इस प्रकटीकरण के लिये उन्हें किसी उपादान की आवश्यकता नहीं होती। परमेश्वर की शक्तियाँ अनन्त होने पर भी, उनकी पाँच शक्तियाँ विशेष रूप से विख्यात हैं। ये हैं—चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया। जब परमेश्वर के हृदय में विश्व-सृष्टि की इच्छा होती है, तब वह क्रियाशक्ति से अपने दो रूप कर लेता है, याने शिव और शक्ति। परन्तु जैसे मधु अपनी मिठास का स्वयं स्वाद नहीं ले सकता, इसी तरह बिना शक्ति के शिव को भी अपने रूप का ज्ञान नहीं होता। इसी सिद्धान्त के अनुसार एक शाक्त सम्प्रदाय भी बन गया, जिसका किसी समय बहुत जोर था। पाशुपत' सम्प्रदाय में भी अनेक पंथ थे, जैसे अघोरी, गोरखपंथी, इत्यादि; परन्तु आजकल वैदिक धर्म का यथार्थ तत्त्व समझने पर इन पंथों का लोप होता जा रहा है।

शाक्तः—इस मत का सिद्धान्त है कि 'शक्ति' आत्मा की अस्पन्दस्वरूपिणी है। जब वह स्पन्दस्वरूपिणी होती है, तब वह जगत् का आकार धारण कर लेती है, और तब उसी को महामाया कहते हैं। आधुनिक काल में विज्ञान

की खोजों ने भी इसी तत्व को सिद्ध कर दिया है कि पर-माणुओं में शक्ति ही शक्ति है, और दृश्य जगत् इन्हीं पर माणुओं का सामूहिक रूप है। जैसे चिति के बिना चैतन्य नहीं, वैसेही शिवके बिना शक्ति नहीं; परन्तु शिव का रूप विना शक्ति की उपासना के समझ में नहीं आ सकता। इसीलिये शैव और शाक्त मत एक दूसरे पर अवलम्बित हैं।

भागवत धर्मः—जिस प्रकार पाञ्चरात्र वैष्णवागमों का प्रतिनिधि माना जाता है, वैसे ही श्रीमद्भागवत वैष्णव-निगम का अमृतमय फल समझा जाता है। यह ग्रन्थ अद्वैत तत्त्व का ही प्रतिपादन करता है और उसके मत में भगवान् निर्गुण, सगुण, जीव तथा जगत् सभी में हैं। जगत् के व्यापार के लिए भगवान् भिन्न भिन्न अवतार भी धारण करते है। ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र, परब्रह्म के गुणा-वतार हैं। भगवान् की प्राप्ति का एकमात्र उपाय उनकी भक्ति ही है। भक्ति के उदय होने से ही कर्म और ज्ञान सार्थक हो सकते हैं।

वैष्णव दर्शनः—इस दर्शन के अनुसार नारायण ही भक्ति-ज्ञान के मूल स्रोत हैं। इस धर्म की अनेक शाखाएँ हैं, जिनमें चार सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं। (१) श्री रामानुज सम्प्रदाय, जिसमें विशिष्टाद्वैत का प्रचार किया गया है, (२) श्री माध्व सम्प्रदाय, जिसमें द्वैत का, (३) श्री वल्लभ सम्प्रदाय, जिसमें शुद्धाद्वैत का और (४) श्री निम्बार्क सम्प्रदाय, जिसमें द्वैताद्वैत का। चैतन्य सम्प्रदाय माध्व-मत की ही एक शाखा है, यद्यपि उसने द्वैतवाद से पृथक

'अचिन्त्य भेदाभेद' को अपनाया है। इन सम्प्रदायों का सूक्ष्म विवरण इस प्रकार है:—

(१) विशिष्टा द्वैत मत—इस मत में पदार्थ तीन हैं; याने चित् अर्थात् जीव, अचित् अर्थात जगत्, और ईश्वर; परन्तु चित् और अचित् ब्रह्म के शरीर हैं। ईश्वर सजातीय तथा विजातीय भेद से शून्य होने पर भी स्वगत भेद सम्पन्न हैं और वह सविशेष है। श्री रामानुज की ये कल्पनाएँ श्री शंकराचार्य की कल्पना से भिन्न हैं। शांकर मत में ब्रह्म ही एक अद्वितीय तत्त्व है, जो स्वगत भेद से भी शून्य है और निर्विशेष है। वही मायोपाधि से ईश्वर और अविद्योपाधि से जीव कहलाता है। श्री रामानुज के मत में ब्रह्म ही ईश्वर है; और उसके शरीर भूत, जीव और जगत्, उससे भिन्न हैं तथा नित्य हैं। इसतरह पदार्थ तीन हैं, एक नहीं।

(२) माध्वमत—यह द्वैतवादी है, क्योंकि यह ब्रह्म और प्रकृति दोनों को नित्य मानता है। ब्रह्म साक्षात् विष्णु हैं और लक्ष्मी परमात्मा की शक्ति हैं। तन्त्र मत में शक्ति और शक्तिमान् में भेद माना जाता है, परन्तु माध्व मत में इन दोनों में पूर्ण सामञ्जस्य है। परमात्मा देश, काल तथा गुण इन तीनों वस्तुओं के द्वारा अपरिच्छिन्न है। प्रकृति साक्षात् विश्व का उपादान कारण है। यह प्रकृति जड़रूपा, नित्या, व्याप्ता और सर्वजीव-लिंगशरीर-रूपा है। इस प्रकार इस मत में जगत् के जन्मादि व्यापार में परमात्मा केवल निमित्त कारण है और प्रकृति उपादानकारण। जीव अज्ञान, मोह दुःख, भयादि दोषों से युक्त संसारशील होते

हैं। इस मत के अनुसार, ईश्वर, जीव और जड़ पदार्थों के भेदों का परिज्ञान मुक्ति का साधक होता है। इस मत की विशेषता यह है कि मुक्त जीवों को भी उनके ज्ञानादि गुणों के समान आनन्द मिलता है; पर सबको एक सा नहीं। भगवान् के अनुग्रह से ही जीव में ज्ञान और भक्ति उत्पन्न होती है और फिर उसे चार प्रकार का मोक्ष याने सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मिलता है। भगवान् में प्रवेश कर उन्हीं के शरीर से आनन्द का भोग करना सायुज्य मोक्ष कहलाता है।

(३) निम्बार्कमत—इस मत के अनुसार, जीव अवस्था भेद से ब्रह्म के साथ भिन्न भी है और अभिन्न भी। अर्थात् सांसारिक दशा में नानात्मक जीव और एकात्मक ब्रह्म में नितान्त भेद हैं; परन्तु मुक्ति दशा में चैतन्यात्मक होने से दोनों अभिन्न हैं। जीव, कर्त्ता होते हुए भी, अपने ज्ञान तथा भोग की प्राप्ति के लिए ईश्वर पर आश्रित रहता है। जीव, परिमाण में अणु तथा नाना है और हरि का अंशरूप है। हरि के अनुग्रह से जीव में भक्ति का उदय होता है, जिससे अन्त में भगवत्साक्षात्कार होता है, क्योंकि ईश्वर सगुणरूप है। शरीर-सम्बन्ध रहने के कारण मनुष्य जीवन्मुक्त नहीं हो सकता।

(४) वल्लभमत—इस मत के अनुसार, ब्रह्म माया से अलिप्त, अतः नितान्त शुद्ध है। भगवान् को जब रमण करने की इच्छा उत्पन्न होती है, तब वे अपने आनन्दादि गुणों के अंशों को तिरोहित कर स्वयं जीव का रूप ग्रहण

कर लेते हैं और अविकृत भाव से जगत् का। इन व्यापारों में माया का सम्बन्ध तनिक भी नहीं रहता। संसार, जीव के द्वारा कल्पित ममतारूप पदार्थ की संज्ञा है। भगवान् की प्राप्ति का सुगम उपाय केवल उनकी भक्ति ही है।

(५) चैतन्यमत—श्री शंकराचार्य के मत के अनुकूल चैतन्यमत में भी ब्रह्म सजातीय, विजातीय तथा स्वगतभेद से शून्य है। सत्, चित्, आनन्द के कारण भगवान् की स्वरूप शक्ति तीन रूपों में अभिव्यक्त होती है। सन्धिनीशक्ति के बल पर भगवान् स्वयं सत्ता धारण करते हैं और दूसरों को सत्ता प्रदान करते। संवित् शक्ति से भगवान् स्वयं जानते हैं और दूसरों को ज्ञान प्रदान करते हैं। और आह्लादिनी शक्ति से स्वयं आनन्दित होते हैं और दूसरों को आनन्द प्रदान करते हैं। श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् ही हैं, अवतार नहीं। जगत् हरि की बहिरंग शक्ति का विलास है। भगवान् को अपने वश में करने का सर्वश्रेष्ठ साधन भक्ति ही है। कर्म का उपयोग है—चित्त की शुद्धि करना, जिससे जीव में ज्ञान होकर भक्ति हो।

(६) स्वामीनारायण सम्प्रदाय—आधुनिक काल में श्रीरामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतमत का प्रचार श्रीरामानन्द स्वामी के शिष्य श्रीनारायण मुनि ने इस सम्प्रदाय के द्वारा किया है। इस मत के सिद्धान्त हैं। अहिंसा, किसी की निन्दा न करना, देवताओं की पूजा करना, तीर्थयात्रा करना, व्रत रखना, सन्ध्या करना, गायत्री का जप करना और कुलपरंपरा को न छोड़ना। उसके अनुसार प्रकृति गुणसाम्य

का नाम है और उसी को माया, तम आदि भी कह सकते हैं। जीव अणु है तथा स्वतःसिद्ध है। परमात्मा के ध्यान के बल से जब मुक्तात्मा ब्रह्मलोक को जाता है, तब वह दिव्य साकार स्वरूप में आविर्भूत हो जाता है। परमात्मा के स्वरूप के पाँच भेद माने गये हैं, अर्थात् पर, विभव, अन्तर्यामी और अर्चा। जो स्वरूप और गुणों से अनवधिक महान् हो, वह पर-ब्रह्म है। वही समस्त जीवों को उनके कर्मों के फल देता है। उन्हीं की उपासना श्रीस्वामीनारायण नाम से की जाती है। जीव को ज्ञान से मोक्ष होता है, किन्तु इस सम्प्रदाय में विशेषतया धर्म, ज्ञान और वैराग्य से युक्त भक्ति ही मोक्ष का साधन मानी गई है।

उपर्युक्त सूक्ष्म विवेचन से मालूम हुआ होगा कि वैष्णव दर्शनों में ज्ञान की अपेक्षा भक्ति ही मोक्ष का प्रधान साधन समझी जाती है, और इसीलिये इनमें जीवन्मुक्त अवस्था को स्वीकार नहीं किया जाता। विदेहमुक्त ही भगवान् के निकट जाकर, उनकी सेवा करता हुआ आनन्दमय जीवन व्यतीत करता है और पुण्य क्षीण होने पर फिर जीव इस लोक में वापिस आ जाता है। सायुज्य मुक्ति होने पर भी, जीव यद्यपि ईश्वर से एकाकार हो जाता है, तो भी अपना किंचिन्मात्र भेद बनाये रहता है।

(अगले अंक में समाप्य)

श्री रामानुजाचार्य

श्री रामेश्वर नन्द

संसार में जितने धर्म हैं, उनसे कहीं अधिक उनके सम्प्रदाय हैं। हिन्दू-धर्म की भी यही अवस्था है। किन्तु अनेकानेक सम्प्रदायों के होते हुए भी हिन्दू धर्म अद्वैत और द्वैत-साधना के दो मूलाधारों पर टिका हुआ है। दूसरे शब्दों में इसे निर्गुण और सगुण भी कहा जा सकता है। निर्गुण और निराकार में विश्वास करने वाला सम्प्रदाय ईश्वर को एक अनिर्वचनीय प्रभु-सत्ता के रूप में स्वीकार करता है, किन्तु भक्तिमार्गी या सगुण सम्प्रदाय ईश्वर के अनेक रूपों में विश्वास रखता है। अद्वैत का उपासक अपना तादात्म्य अपनी समरूपता के आधार पर सीधे ईश्वर से स्थापित करना चाहता है पर सगुण मार्ग का साधक ईश्वर से अपने अनेक प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करते हुए उनकी कृपा की याचना करता है। यदि अद्वैत-साधना का सम्बन्ध ज्ञान और मस्तिष्क से है तो द्वैत या सगुण-मार्ग की भक्तिपूर्ण साधना प्रेम और हृदय से सम्बन्ध रखती है।

भारतीय द्वैत-साधना के इतिहास में श्रीमत् रामानुजाचार्य का विशेष स्थान है। वे एक ऐसे युग में अवतरित हुए थे जब भारतवर्ष में श्रीमत् स्वामी शंकराचार्य का प्रभाव पूरी तरह से छाया हुआ था। स्वामी शंकराचार्य

ने कर्मकाण्ड की निस्सारता प्रमाणित करते हुए अद्वैत वेदान्त की सर्वोपरि श्रेष्ठता की स्थापना की थी। उस समय ज्ञान-मार्ग ही सर्वोत्कृष्ट प्रमाणित हो चुका था। सामान्य जनता के मन से यह धारणा निकल चुकी थी कि 'ईश्वर मेरे स्वामी हैं', और उनके मन में 'मैं ही ईश्वर हूँ' (अहं ब्रह्मास्मि) की मान्यता पनप रही थी। किन्तु सामान्य जनता स्वामी शंकराचार्य के समान ज्ञान की इस अत्युच्च अवस्था तक नहीं पहुँच सकती थी। फलतः इसका दुष्परिणाम भी देखना पड़ा। एक ओर तो इस धारणा के कारण भक्ति-भाव का ह्रास हुआ और दूसरी ओर सांसारिकता में डूबे, पोंगा-पण्डितों के मन में यह अहंकार भी बढ़ गया कि वे ही ईश्वर हैं। इसप्रकार स्वामी शंकराचार्य की आत्मानुभूति से युक्त अमर सूक्ति 'अहं ब्रह्मास्मि' एक साधारण सी बात हो गई। फल यह हुआ कि सामान्य जनता भक्ति और ज्ञान दोनों से विमुख हो गई और धर्म-साधना के नाम पर मिथ्या अहंकार के अंधकार में भटकने लगी।

ऐसे संक्रान्तिकाल में ज्ञान और भक्ति का एक सर्वथा नया दृष्टिकोण लेकर और उन दोनों का समन्वय करते हुए श्रीमत् रामानुजाचार्य का आगमन होता है। उनका जन्म आज से लगभग साढ़े नौ सौ वर्ष पहले सन् १०१७ ई में मद्रास से ३० मील दूर श्री पेरुम्बुदूर नामक गाँव में हुआ था। उनके पिता श्री आसुरीकेशवाचार्य और उनकी माता श्रीमती कान्तिमती देवी भगवान के बड़े भक्त थे।

विवाह हुए जब बहुत साल बीत गए और उन्हें कोई सन्तान न हुई तो श्री आसुरीकेशवाचार्य चिन्तित हो उठे। पुत्रप्राप्ति के लिए वे पत्नीसहित वृन्दारण्य नामक स्थान में श्री पार्थसारथि की उपासना करने लगे। उनकी अनन्य भक्ति और निष्ठा से प्रभावित होकर एक रात्रि को श्री-भगवान् ने उन्हें स्वप्न में दर्शन प्रदान किया और उनसे कहा, "हे सर्वक्रतु, मैं तुम्हारी निष्ठा और दृढ़ भक्ति से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। चिन्ता छोड़ दो। मैं स्वयं तुम्हारे घर में पुत्र के रूप में जन्म ग्रहण कर रहा हूँ। आजकल लोग अपनी दुर्भावनाओं के कारण गुरू की शिक्षा के सार को समझने में असमर्थ हो गए हैं और स्वयं को ईश्वर समझने लगे हैं। वे अभिमान में पड़कर विकृत हो गए हैं तथा स्वार्थी बन गए हैं। यदि मैं स्वयं ही 'आचार्य' के रूप में नहीं आऊँगा तो उनका विनाश निश्चित है। तुम अपनी पत्नी को लेकर घर लौट जाओ। तुम्हारी इच्छा पूरी हो जाएगी।"

श्रीकेशवाचार्य श्रीभगवान् के द्वारा आश्वासन पाकर पुलकित हो उठे। इस घटना के ठीक एक वर्ष बाद उन्हें पुत्र की प्राप्ति हुई। चैत्र शुक्ल द्वादशी के दिन शकाब्द ९३९ में श्रीरामानुज का जन्म हुआ। श्री रामानुज के मामा श्री शैलपूर्ण सन्यासी थे तथा भगवान् विष्णु के अनन्य भक्त थे। उन्होंने जब इस बालक को देखा तब उन्हें उसमें अनेक दिव्य लक्षणों की प्रतीति हुई। उन्हें सहसा बृहत् पद्मपुराण और नारद पुराण की वे बातें याद हो आईं

जिनमें कहा गया था कि कलियुग में श्री अनन्तदेव का पुनः आविर्भाव होगा। ध्यान देने की बात है कि श्री लक्ष्मण जी को अनन्तदेव का अवतार माना गया है। श्री शैलपूर्ण ने जब श्रीलक्ष्मणजी और इस बालक के जन्म के समय में अभूतपूर्व समानता देखी तब उन्होंने उसका नाम 'रामानुज' रख दिया।

शैशवकाल से ही श्रीरामानुज में विलक्षण प्रतिभा के लक्षण प्रकट होने लगे थे। यथासमय उन्हें विद्याभ्यास के लिए प्रसिद्ध विद्वान् तथा वेद-वेदान्त के महापण्डित श्री यादव प्रकाश के पास भेजा गया। श्री यादव प्रकाश कट्टर वेदान्ती थे तथा शास्त्रों के श्लोकों की व्याख्या शांकर भाष्य तथा अन्यान्य प्रतिष्ठित वेदान्तशास्त्रियों के सिद्धान्तों के अनुरूप किया करते थे। किन्तु श्री रामानुज के हृदय में भक्ति की कोमल भावनाएँ भरी हुई थीं। इसलिए कई बार उनमें और श्री यादव प्रकाश में विरोध हो जाया करता था। जब श्री यादव प्रकाश का कोरा शास्त्र-ज्ञान उन्हें उचित प्रतीत नहीं होता तब वे न चाहते हुए भी अपने गुरु का विरोध करने के लिए बाध्य हो जाते थे। इस सन्दर्भ में दो घटनाओं का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा।

एक दिन छात्रगण पूर्वाह्न का अध्ययन समाप्त कर भोजन करने के लिए जा रहे थे। उस समय रामानुज अपने गुरु की सेवा कर रहे थे। इतने में एक और छात्र गुरुदेव के समीप आकर खड़ा हो गया। श्रीयादव प्रकाश

के कारण पूछने पर उसने बताया कि वह निम्नलिखित श्लोक का अर्थ नहीं समझ पा रहा है-"तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी।" (छांदोग्य उपनिषद् १।६।७) तब श्री यादव प्रकाश ने पूर्वाचार्यों एवं शांकर भाष्य के अनुरूप उक्त मंत्र की व्याख्या करते हुए बताया कि "उस स्वर्ण पुरुष की दोनों आँखें कमल के समान हैं। उन आँखों का रंग बन्दर के नितम्बों के समान लाल है।"

श्री रामानुज को पवित्र मंत्र का ऐसा अशुद्ध अर्थ सुनकर तथा ब्रह्म की ऐसी वीभत्स उपमा पाकर बड़ा दुःख हुआ। उनकी आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी। जब श्री यादवप्रकाश की जाँघ पर श्रीरामानुज के अश्रु-कण टपके तब उन्होंने रामानुज की ओर देखा और आश्चर्य से उनके रोने का कारण पूछा। रामानुज ने उत्तर दिया, "गुरुदेव! पवित्र मंत्र की ऐसी व्याख्या सुनकर मुझे बड़ा दुःख हुआ है।" तब श्री यादव प्रकाश ने कहा, "पुत्र! तुम्हारा दुस्साहस देखकर मुझे भी बड़ी पीड़ा पहुँची है। मैं देख रहा हूँ कि तुम तो शंकराचार्य से भो आगे निकल जाना चाहते हो। अच्छा, तो क्या तुम इसकी कोई अन्य व्याख्या कर सकते हो?" रामानुज ने उत्तर दिया, "क्यों नहीं, गुरुदेव! आपकी कृपा से सब सम्भव है। 'कप्यासम्' का अर्थ है 'कजलं पिबतीति कपिः सूर्यः अर्थात् वह जो पानी पीता है—याने सूर्य। 'अस' शब्द का अर्थ है 'खिलना'। अतः पूरे मंत्र का अर्थ है—'उस पुरुष की स्वर्णिम सूर्यवृन्तमयी आँखें सूर्य की किरणों से

खिले कमल के फूल के समान सुन्दर हैं ।" यद्यपि श्री यादव प्रकाश रामानुज की व्याख्या का खण्डन न कर सके तथापि अपने शिष्य से ही परास्त हो जाने के कारण वे मन ही मन बड़े क्षुब्ध और क्रुद्ध हो उठे ।

थोड़े ही दिनों के बाद इसी प्रकार की दूसरी घटना भी घटी । एक दिन श्रीयादवप्रकाश तैत्तिरीय उपनिषद् के इस मंत्र की व्याख्या कर रहे थे-'सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म ।' अर्थात् ब्रह्म ही सत्य, ज्ञान और अनन्त है । रामानुज को यह अर्थ उचित प्रतीत नहीं हुआ । उन्होंने गुरू से नम्रता-पूर्वक निवेदन करते हुए कहा, "गुरुदेव, मेरे विचार से इस श्लोक का अर्थ इसप्रकार होना चाहिए—ब्रह्म स्वयं सत्य, ज्ञान या अनन्त नहीं है अपितु ये सब उसके गुण हैं ।" अपने विचार को एक उदाहरण से स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा, "जिसप्रकार यह शरीर तो मेरा है किन्तु मैं शरीर नहीं हूँ ठीक उसीप्रकार ये सब गुण ब्रह्म के हैं पर ये स्वयं ब्रह्म नहीं हैं ।"

अपने शिष्य के मुख से इसप्रकार की बातें सुनकर वेदान्ती यादव प्रकाश के क्रोध का ठिकाना न रहा । वे यह सहन नहीं कर सके कि एक सोलह साल का लड़का स्वामी शंकराचार्य तथा अन्य आचार्यों द्वारा प्रतिपादित भाष्यों को अस्वीकार करे । वे गरज उठे, "अरे दम्भी छोकरे ! यदि तू इतना बड़ा पण्डित है तो मेरे पास क्यों पढ़ता है ? तू अपनी पाठशाला क्यों नहीं खोल लेता। मैं तो स्वामी शंकरा-चार्य और अन्य आचार्यों द्वारा मान्य अर्थ ही बताता हूँ ।"

रामानुज के नयन पुनः डबडबा गए। किन्तु वे गुरु की बात न मानने के लिए विवश थे क्योंकि उनका बताया गया भाष्य शुद्ध प्रतीत नहीं होता था। उधर श्रीयादवप्रकाश के मन का भय भी बढ़ गया। वे सोचने लगे कि यह दुष्ट निश्चय ही अद्वैत का शत्रु बनकर पैदा हुआ है। जब व्यक्ति का अहंकार बढ़ जाता है तब वह मनुष्य नहीं रह जाता। उसकी बुद्धि झूठे अहंकार से मलिन हो जाती है और वह उसी बुद्धि से संसार को भी तौलना चाहता है। वह समझता है—कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ?' अर्थात् मेरे समान दूसरा कौन है ? बड़प्पन के नशे में श्रीयादवप्रकाश चूर थे। उस समय के बड़े-बड़े दिग्गजों ने उनके पाण्डित्य के समीप अपने घुटने टेक दिये थे। वे वेदान्त के दूसरे शंकर समझे जाते थे। किन्तु उनमें केवल शास्त्रों का बौद्धिक ज्ञान ही भरा था, उसकी अनुभूति से वे काफी दूर थे। महाकवि भारवि कहते हैं 'प्रकृतिः खलु सा महीयसः सहते नान्यसमुन्नतिं यथा।' अर्थात् दूसरों की प्रगति को न सह सकना तो बड़ों का स्वभाव ही है ! यद्यपि यह बात विरोधाभास जैसी प्रतीत होती है तथापि वह सत्य ही है। श्रीराम जैसे पुत्र का राजा बनना माँ कैकेयी को अच्छा न लगा। पाण्डवों की प्रगति धृतराष्ट्र जैसे वयोवृद्ध राजा को अच्छी न लगी। ध्रुव को पिता का प्यार पाते देखकर उसकी सौतेली माता ईर्ष्या से जल उठीं। ईर्ष्या का यहीं विष-बीज श्री यादव प्रकाश के मन में भी धीरे धीरे पल्लवित होने लगा था। रामानुज का अस्तित्व उनकी अशान्ति का

कारण बन गया था। अन्त में उन्होंने अपने गृह-शिष्यों के साथ इस विषय पर चर्चा की तथा रामानुज की हत्या करने का निश्चय कर लिया। श्री यादव प्रकाश ने अपने शिष्यों से कहा, "हम सब गंगा-स्नान करने के लिए जाएँगे रास्ते में किसी निर्जन स्थान पर रामानुज की हत्या कर देंगे और गंगा-स्नान कर वापस लौट आएँगे। इस प्रकार शत्रु तो मिट ही जाएगा, साथही गंगा-स्नान से हत्या का पाप भी नहीं लगेगा।"

यथासमय श्री यादव प्रकाश अपने शिष्यों के साथ गंगा-स्नान के लिए रवाना हुए। उनके साथ में रामानुज और उनके मौसेरे भाई गोविन्द भी थे। रास्ते में एक घना जंगल पड़ा। गोविन्द को कहीं से यह ज्ञात हो गया कि आज रामानुज की हत्या कर दी जाएगी। एकान्त पाकर उन्होंने रामानुज से कहा, "तुम शीघ्र यहाँ से चले जाओ, अन्यथा आज ये लोग तुम्हारी हत्या कर देंगे।" सन्ध्या हो गई थी। सभी छात्र नित्य कर्मों से निवृत्त होने जंगल की ओर चले गए थे। रामानुज भी इसी बहाने सरोवर की ओर होते हुए घने जगल में प्रविष्ट हो गए। रात बीतने लगी पर रामानुज वापस नहीं लौटे। उनके गुरु और साथियों ने सोचा कि रामानुज को अवश्य किसी जंगली जानवर ने खा लिया है। श्री यादव प्रकाश मन ही मन बड़े प्रसन्न हुए। दिखावे के तौर पर रोना-गाना करके वे आगे बढ़ गए। इधर रामानुज उस घने जंगल में बढ़ते ही गए। रास्ते में उनको भेंट एक व्याध-दम्पति से हुई।

उन्होंने व्याध-दम्पति के साथ ही रात्रि व्यतीत की। प्रातः काल उनकी आँखें खुलीं। उन्होंने देखा न तो वहाँ घना जंगल था और न व्याध-दम्पति ही वहाँ थे। वे अपने गुरु के नगर कांचीपुरम में पहुँच गए थे। रामानुज के आश्चर्य और आह्लाद कीसीमा न रही। भगवान् की अपार करुणा और दया का स्मरण कर उनके नेत्र अश्रुसिक्त हो उठे।

इसके पश्चात् श्री रामानुज अपने घर लौट आए। उन्हें देखकर उनकी माता कान्तिमनी और उनकी पत्नी रक्षाकम्बल के हर्ष का ठिकाना न रहा। यहाँ रामानुज का समय परम वैष्णव कांचीपूर्ण के साथ व्यतीत होता। कांचीपूर्ण भगवान् वरदराज (श्री विष्णु) के बड़े भक्त थे तथा भावावेश में वे प्रभु से वार्तालाप किया करते थे। एक दिन रामानुज ने उन्हें अपने घर में भोजन के लिए आमंत्रित किया। कांचीपूर्ण शूद्र कुल में उत्पन्न हुए थे। अतः यह बात रामानुज की पत्नी को रुचिकर न लगी। कांचीपूर्ण रामानुज की अनुपस्थिति में ही उनके घर आए और भोजन करके चले गए। उनके जाने के पश्चात् उनकी पत्नी ने घर को लीपा पोता और स्वयं स्नान कर अपने पति के लिए भोजन पकाने लगी। कुछ समय के बाद रामानुज लौटे। उन्होंने जब अपनी पत्नी को पुनः पकाते देखा तो इसका कारण पूछा। उनकी पत्नी ने कहा, "कांचीपूर्ण जैसे शूद्र को इस घर में हमारे ही साथ कैसे भोजन कराया जा सकता है? इसलिए मैं फिर से घर को लीप-पोतकर, स्नान कर अब आपके लिए भोजन बना रही हूँ।" असल

में, उन दिनों दक्षिण में जाति-पाँति और छुआछूत की कुरीति बड़ी गहरी थी। कांचीपूर्ण अपनी जाति का ध्यान सदैव रखा करते थे। उन्हें भय था कि कहीं रामानुज उन्हीं के साथ भोजन करने न बैठ जाएँ और ब्राह्मण का धर्म कहीं उन्हींके कारण नष्ट न हो जाय। यही सोचकर कांचीपूर्ण जल्दी से उनकी अनुपस्थिति में उनके घर भोजन करके चले गये थे। रामानुज उस समय उन्हें बुलाने के लिए उनके घर गए थे। अपनी पत्नी की बात सुनकर उन्होंने साश्चर्य पूछा, "तो क्या कांचीपूर्ण आकर चले भी गए ?" उनका हृदय ग्लानि से भर उठा। उन्होंने भोजन तो किया ही नहीं किन्तु यह कहते-कहते वे घर से निकल आए कि "आह ! आज मैं उनका प्रसाद तक न पा सका।"

इसी प्रकार की एक और हृदयविदारक घटना उनके घर में घटी। उन दिनों रामानुज के गुरु श्रीमहापूर्ण अपनी पत्नी सहित उनके घर में निवास कर रहे थे। एक दिन भूल से उनकी पत्नी के द्वारा रक्षाकम्बल के जल का स्पर्श हो गया। रक्षाकम्बल क्रोध से काँपने लगीं और गुरुपत्नी का तिरस्कार करते हुए कहने लगीं, "तुम उनके गुरु की पत्नी हो तो क्या तुम मेरे सिर पर चढ़कर नाचोगी। तुम्हें दिखता नहीं ! तुमने मेरे जल को छूकर मुझे अपवित्र कर दिया।" जब गुरूपत्नी ने क्षोभ में श्रीमहापूर्ण को रक्षाकम्बल के दुर्व्यवहार की सूचना दी तब वे बिना रामानुज की प्रतीक्षा किए वहाँ से चले गए।

इससे श्रीरामानुज के हृदय में एक तीव्र धक्का लगा।

धीरे-धीरे उनका मन अपने घर से विरक्त होने लगा। पत्नी का व्यवहार दिनोंदिन अधिक क्रूर और कर्कश होता गया। अतिथि-अभ्यागत उनके घर से अपमानित होकर लौटने लगे। एक दिन रामानुज मन्दिर से लौट रहे थे। उन्हें अपने घर से एक वृद्ध ब्राह्मण जाते हुए दिखाई पड़े। रामानुज ने पूछा, "क्यों बाबा, हमारे घर गए थे?" वृद्ध ने स्वीकृति में सिर हिला दिया। उन्होंने फिर पूछा, "कुछ मिला?" ब्राह्मण ने कहा, "नहीं, आपकी पत्नी ने डाँटकर भगा दिया।" तब रामानुज ने ब्राह्मण से रुकने के लिए कहा और एक पत्र देकर कहा, "अब जाकर कहो कि तुम उसके पिता के गाँव से आए हो।" कुछ समय के बाद जब रामानुज घर पहुँचे तब उन्होंने देखा कि ब्राह्मण का बड़ा स्वागत हुआ है तथा उनकी पत्नी बड़ी प्रसन्न है। पति को देखते ही रक्ताकम्बल बोल उठी, "यह मेरे पिता का पत्र आया है। छोटी बहिन का ब्याह हो रहा है। इसलिए उन्होंने मुझे और आपको शीघ्र बुलाया है।" रामानुज ने उत्तर दिया, "अभी तो मेरा जाना न हो सकेगा। तुम इस ब्राह्मण के साथ चली जाओ।" पत्नी के जाते ही रामानुज ने संन्यास ग्रहण कर लिया।

इसके उपरान्त श्रीमत् रामानुजाचार्य का शेष जीवन ईश्वर के भजन-चिंतन में व्यतीत हुआ। वे जाति-पाँति को बिलकुल महत्त्व नहीं देते थे तथा ब्राह्मण और शूद्र से समान रूप से प्रेम करते थे। उनके हृदय में करुणा का सागर लहरें मार रहा था। एक दिन उन्हें मंत्र प्रदान करते

हुए उनके गुरु ने कहा, "रामानुज ! 'ॐ नमो नारायणाय' का पवित्र मंत्र सभी पापों का खण्डन करने वाला है। इसे किसी को मत बताना।" किन्तु श्रीरामानुजाचार्य के हृदय में तो समस्त जीवों के प्रति अपार करुणा भरी हुई थी। वे तत्काल ही गोपुरम के मंदिर में पहुँचे और जोर जोर से घोषणा करने लगे, "अरे सुनो, सब लोग सुनो। आज मैंने मुक्ति का मंत्र पा लिया है। मुझे स्वर्ग के द्वार की कुंजी मिल गई है। सुनो-सुनो, इस मंत्र का जाप करो—'ॐ नमो नारायणाय।' जब उनके गुरु को इसकी सूचना मिली तब वे बड़े क्रुद्ध हुए। शिष्य को ताड़ना देते हुए उन्होंने कहा, "इसका परिणाम जानते हो ? गुरु की आज्ञा न मानने के कारण तुम्हें नरक में जाना पड़ेगा।" तब रामानुज ने कहा, "यदि ये कोटि-कोटि लोग स्वर्ग चले जाएँगे तो मुझे उनके लिए नरक जाने में कोई दुःख नहीं होगा !" शिष्य की इस उदारता को देखकर स्वयं गुरु ही द्रवित हो उठे।

अब श्री रामानुजाचार्य वैष्णव धर्म की प्रतिष्ठा एवं विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादन करने लगे। एक बार उनके मन में कुछ विलक्षण प्रश्न उदित हुए। इन प्रश्नों का उत्तर उन्हें किसी मनुष्य से मिलना कठिन था। तब उन्होंने महात्मा कांचीपूर्ण के समक्ष अपनी जिज्ञासा रखी। महात्मा कांचीपूर्ण ने स्वयं वरदराज भगवान् विष्णु से इनका उत्तर पूछा। भगवान् वरदराज ने कहा—

"अहमेव परं तत्त्वं जगत्कारणकारणम्।
क्षेत्रज्ञेश्वरयोर्भेदः सिद्ध एव महामते ॥

मोक्षोपायो न्यास एव जनानां मुक्तिमिच्छताम् ।
मद्भक्तानां जनानां च नान्तिमस्मृतिरिष्यते ॥

देहावसाने भक्तानां ददामि परमं पदं ।
पूर्णाचार्यं महात्मानं समाश्रय गुणाश्रयम् ॥

इति रामानुजार्याय मयोक्तं वद सत्वरं ।"

(प्रपन्नामृतम् १०–६६–६६)

अर्थात्, "मैं परम ब्रह्म ही प्रकृति और संसार का कारण हूँ । हे महामते, ईश्वर और जीव का अन्तर स्वतःसिद्ध है। जीवन में आनन्द और मोक्ष पाने का एकमात्र उपाय ईश्वर के चरणकमलों में आत्मसमर्पण है। मेरे भक्त अन्तिम क्षणों में मेरा स्मरण करें या न करें किन्तु उनकी मुक्ति सुनिश्चित है। ज्योंही मेरे भक्त शरीर का त्याग करते हैं त्योंही वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं। तुम शीघ्र ही मेरी इन बातों को रामानुज को बताओ। महापूर्ण सर्वगुणसम्पन्न महात्मा है। उसका आश्रय ग्रहण करो।"

स्वयं भगवान् के मुख से ज्ञान प्राप्त कर रामानुजाचार्य हर्ष से विह्वल हो उठे। इसके उपरान्त उन्होंने प्रसिद्ध 'श्रीभाष्य' की रचना की। उनका मत 'श्रीसम्प्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध है। उन्होंने १२० वर्ष की आयु तक धर्म-प्रचार किया। संवत् ११३७ की माघ शुक्ल दशमी के दिन शनिवार

को उन्होंने देह त्याग दी। आज भी दक्षिण में उनके अनेक अनुयायी हैं। श्रीभगवान् ने मानों श्रीमत् रामानुजाचार्य के माध्यम से अपने वचनों को पूरा किया और एक 'आचार्य' के रूप में वेदान्त की युगानुकूल व्याख्या की। उन्होंने ज्ञान और भक्ति का जो समन्वयमूलक रूप प्रस्तुत किया उसे 'विशिष्टाद्वैत' कहा जाता है।

शत्रु को उपहार देनेयोग्य सर्वोत्तम वस्तु है क्षमा; विरोधी को सहनशीलता; मित्र को अपना हृदय; शिशु को उत्तम दृष्टान्त; पिता को आदर; माता को अपना ऐसा आचरण जिससे वह तुम पर गर्व करे; अपने को प्रतिष्ठा; और सभी मनुष्यों को उपकार।

— बालफोर

भगवान् बुद्ध और उनका संदेश:-

प्राध्यापक हरवंशलाल चौरसिया, दुर्गा महाविद्यालय, रायपुर

आज से लगभग ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व भारत में उस विश्वविख्यात ज्योतिःपुंज ज्ञान-सूर्य का उदय हुआ जो ज्ञान, करुणा, प्रेम और त्याग का मूर्तिमान स्वरूप था। युगावतार की शक्ति और विश्वास लेकर, अपने युग की विराट सामाजिक और सांस्कृतिक जाग्रति के सूत्रधार के रूपमें भगवान् बुद्ध इस अवनी पर अवतीर्ण हुए। उस महान् विभूति का एक ऐसे युग-सन्धि के समय आविर्भाव हुआ जिसे हम विविध विचारधाराओं, मनोभावनाओं एवं धर्म-साधनाओं का चौराहा कह सकते हैं। बैसाख पूर्णिमा बौद्ध धर्म में अत्यंत पवित्र एवं महत्त्वपूर्ण तिथि मानी जाती है क्योंकि यही विशेष दिन तथागत के जन्म, बुद्धत्व की प्राप्ति और उनके परिनिर्वाण से संबद्ध है। इसी भाँति गौतम बुद्ध के जीवनवृत्त में एक उल्लेखनीय साम्य यह भी पाया जाता है कि उनका जन्म लुंबिनी उद्यान में वृक्षों की शीतल छाया में हुआ, बोध-गया में वृक्ष के ही नीचे उन्हें बुद्धत्व की प्राप्ति हुई, तथा परिनिर्वाण भी उन्होंने कुशीनगर में वृक्ष के तले ग्रहण किया।

ईसा की छठवीं शताब्दी पूर्व का युग बौद्धिक जगत् में अनेकानेक प्रचलित विचार-धाराओं की अराजकता एवं अनिश्चयवादिता का युग था। तार्किक वाद-विवादों में उलझकर लोग जीवन के आधारभूत कर्त्तव्यों को भूलने

लगे थे। डा. राधाकृष्णन् ने उस युग की इसी प्रवृत्ति की आलोचना करते हुए उचित ही लिखा है : इस युग में वेदों के सरल और भक्तिमय धर्म का स्थान एक कठोर, हृदय-घाती व्यापारिक धर्म ने ले लिया जोकि एक प्रकार के ठेके पर निर्भर था। आर्यों के पुरोहित मानों देवताओं से कहते थे–तुम हमें इच्छित फल दो, इसलिए नहीं कि तुममें हमारी भक्ति है वरन् इसलिए कि हम गणित की क्रियाओं की भाँति यज्ञ-विधानों का ठीक क्रम से अनुष्ठान करते हैं। एक ओर भगवान् बुद्ध ने वैदिक धर्म की ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों की झाँकी देखी जहाँ ईश्वर, आत्मा आदि शाश्वत तत्त्वों के विषय में काफी ऊहापोह और निरर्थक तर्क-वितर्क होता था और दूसरी ओर वे अपने समकालीन प्रमुख विचारकों की-यथा पुराण कश्यभ को अक्रियावादी, अजित केशकंबली की उच्छेदवादी, पकुध कात्यायन की अशाश्वतवादी, मक्खली गोसाल की भाग्यवादी और संजय वेलट्ठपुत्त की विक्षेपवादी—संदेहवादी विचारधाराओं की बाढ़ के जीवनघाती प्रभाव से भी अवगत हुए। दोनों ही दृष्टिकोण उन्हें एकांगी प्रतीत हुए। "एक रूप भ्राता तुम दोऊ" के अनुसार उन्होंने किसी एक अतिवाद को ग्रहण नहीं किया। लोगों के व्यावहारिक जीवन में आचारगत नियमों की उपेक्षा से उनके कोमल और संवेदनशील हृदय को अत्यधिक ठेस लगी। उनकी पैनी दृष्टि ने कृत्रिम स्मित रेखा के नीचे आधि, व्याधि, जरा और मरण की भीषण व्यथा का उपहास देखा। याज्ञिक हिंसा

का प्रचार देखकर उनका मन विद्रोह कर उठा। उन्होंने विश्व की करुणा को देखा ही नहीं वरन् अनुभव भी किया। विश्व के क्षणिक और बनावटी सुख को बाह्य चकाचौंध उन्हें उस चिरस्थायी वेदना या दुख की सर्वव्यापी सघन छाया का प्रत्यक्षानुभव करने से न रोक सकी जिसके फलस्वरूप उनका हृदय जनकल्याण के लिए द्रवीभूत हो उठा और उन्होंने इस दुख-निरोध के मार्ग को खोज निकालने की दृढ़ प्रतिज्ञा की। उन्होंने अपनी वाणी के द्वारा तत्कालीन युग की खोखली आचार प्रवणता, सामाजिक गतानुगतिकता एवं रूढ़िधर्मता पर कसकर प्रहार किया और जिन सहज सामान्य मानवीय आदर्शों की स्थापना की, वे निश्चित रूप से भावी पीढ़ी के लिए जीवित संदेश बने। यदि बौद्धिक ईमानदारी, नैतिक दृढ़ता तथा आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि की कसौटी पर उन्हें कसा जाय तो वे इतिहास के महत्तम व्यक्तियों में से हैं।

बौद्ध धर्म के विषय में यह उक्ति अक्षरशः सत्य प्रतीत होती है कि उसका जितना ही व्यापक और गहन अध्ययन किया जाता है, उतना ही उसमें और हिन्दू धर्म में भेदक रेखा खींचना दुष्कर होता है। वास्तव में यह धर्म हिन्दुत्व का ही संशोधित रूप है। हिन्दू धर्म के दशावतार में बुद्ध का समावेश भी शायद इसी भावना से किया गया होगा कि पशु-हिंसा रोकने के लिये ही बुद्ध अवतीर्ण हुए। प्रसिद्ध विद्वान् पूसिन का भी यही मत है कि बौद्ध धर्म कोई नवीन धर्म नहीं प्रत्युत हिन्दुत्व का ही बौद्धीकरण

मात्र है। बुद्ध प्रचलित धर्म के भंजक नहीं, वरन् उसके सुधारक थे। उन्होंने हिन्दू धर्म के जन्मान्तरवाद (किन्तु उस अर्थ में नहीं जिसमें एक देह से दूसरी में संचार करने वाला कोई नित्य आत्मा माना जाता है) और कर्म-फल-वाद को स्वीकार किया। उन्होंने ज्ञान और भक्ति की अपेक्षा कर्म को अधिक महत्त्व दिया और जीवन भर उसी का उपदेश देते रहे। उपनिषदों के लिए जो तत्त्व है, अध्यात्म है, वही बुद्ध के लिए नीति है, जीवन है। उपनिषदों में जो ब्रह्म का साक्षात्कार है, वही बुद्ध के लिये जीवन का कल्याण बन गया। उपनिषदों के अध्यात्मवाद का बुद्ध-शासन में मानवीकरण है। ❀

राज-घराने में जन्म लेने पर भी गौतम बुद्ध के मन में बचपन से ही सांसारिक सुख एवं भौतिक महत्त्वाकांक्षाओं के प्रति विराग की भावना थी। २८ वर्ष की आयु में वे गृह त्याग कर, परिव्राजक का वेश धारण कर संसार में व्याप्त दुख के आत्यन्तिक निरोध के मार्ग को खोजने में प्रवृत्त हुए। यह घटना महाभिनिष्क्रमण कहलाती है। बुद्धत्व की प्राप्ति कर सारनाथ में धर्म-चक्र-प्रवर्तन करते हुए उन्होंने अपने पाँच शिष्यों को सर्वप्रथम जो धर्मोपदेश दिया, वह अत्यंत सरल, आकर्षक और युक्तिसंगत है :

❀ तथागत की शिक्षा का संक्षेप इस धम्मपद की गाथा में निहित है—सब्ब पापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा सचित्त परियोदपनं एतं बुद्धान् सासनं। १४१५)

जीवन में भोगातिशयता और तपस्या—इन दोनों विषय दृष्टिकोणों को त्याग कर उन्होंने मध्यम मार्ग अपनाने पर जोर दिया। उनका लक्ष्य अप्रत्यक्ष दार्शनिक तत्त्वों का विचार नहीं, बल्कि दुःखों से निर्वाण पाने की साधना को खोजना था। अतः सिद्धान्त संबंधी अन्तहीन वितंडाओं में उलझने की अपेक्षा उन्होंने आंतरिक शान्ति और नैतिक प्रयास को महत्त्व दिया। उनके उपदेश वाद-विवाद पर नहीं, बल्कि जीवन के गहरे विश्लेषण और व्यापक अनुभव पर टिके हैं। चार आर्य-सत्यों में बुद्ध के आध्यात्मिक विकास के सम्पूर्ण क्रम की झाँकी मिलती है। ये चार आर्य-सत्य बौद्ध दर्शन की आधार- शिला हैं।

प्रथम आर्य-सत्य है, दुःख। अस्तित्ववान् होने का अर्थ है दुःखानुभूति। संसार में सर्वत्र दुःख ही दुःख है। जीवनके सभी पक्षोंपर अनवरत मनन के पश्चात् बुद्ध इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि जीवन दुःखों से परिपूर्ण है। अपने स्वार्थ की सीमा को हम कितना ही संकीर्ण कर लें, फिर भी हम दुःख से नहीं बच सकते हैं। 'महासागरों में जितना जल है उससे अधिक आँसू मानवों ने बहाये होंगे। जो शोक-शर से अनुविद्ध है, उसे उस शर को निकाले बिना वास्तविक शांति कहाँ है?'

द्वितीय आर्य-सत्य दुःखों के कारणों के विषय में है। जन्म-मरण के चक्र को चलानेवाली तृष्णा ही दुःखों का मूल कारण है। यह तृष्णा भी तीन प्रकार की होती है,—काम तृष्णा, भव तृष्णा और विभव तृष्णा। दुःख के इन

कारणों को बुद्ध ने प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धांत द्वारा समझाया जो वास्तव में दोनों अतिवादी दृष्टिकोणों (शाश्वतवाद और उच्छेदवाद) के मध्य का मार्ग है। बौद्ध दर्शन में इस सिद्धान्त का अत्यधिक महत्त्व है। इसे बोध या धर्म भी कहा गया है। यह अनादि और अनंत है। स्वयं बुद्ध का कथन है, 'जो प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है, वह धर्म को देखता है।' उसको भूल जाना ही दुःखका कारण है, उसके ज्ञान से दुःखों का अंत हो जाता है। प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है—एक चीज के होने से दूसरी चीज होती है।* दुःख कार्यकारण-श्रृंखला की एक कड़ी है। यह श्रृंखला अविद्या से प्रारंभ होती है और दुःखानुभूति में उसका पर्यवसान होता है। अविद्या से जरा-मरण और दुःख तक प्रसरित होने वाली श्रृंखला में बारह कड़ियाँ हैं जिन्हें द्वादश निदान कहा गया है। यह सिद्धान्त विश्व को क्षण-भंगुरता की दार्शनिक व्याख्या है।

क्षणिकवाद और अनित्यवाद, प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त से ही निःसृत होते हैं। तथागत के समस्त उपदेशों का सार 'सर्वं क्षणिकम्, सर्वं अनात्मा एवं सर्वं दुखम्' के रूप में अभिव्यक्त हुआ जो सुगत 'सिंहनाद के नाम से प्रसिद्ध है। क्षणिकवाद के अनुसार, जो उत्पन्न होगा उसका विनाश अवश्य होगा और जिसका नाश होगा वह स्थायी नहीं समझा जा सकता है; अतएव प्रत्येक वस्तु क्षणभंगुर

---

* अस्मिन् सति इदं भवति।

है। परिवर्तन ही जगत् का नियम है।❀ अंगुत्तर निकाय के अनुसार पाँच बातें अनिवार्य हैं। जो वृद्ध हो सकता है, वह अवश्य ही वृद्ध होकर रहेगा। जो रोगी हो सकता है, वह अवश्य ही रोगी होगा। जो मृत्यु के अधीन है वह अवश्य मरेगा। जो नश्वर है उसका नाश निश्चित है और जो अनित्य है, वह अवश्य ही नष्ट होगा। कोई भी दैवी या लौकिक शक्ति इस सत्यको नहीं बदल सकती है। यह अनित्यवाद है। सभी का उत्पाद, स्थिति और निरोध होता है।

शाक्य मुनि ने अपने शिष्यों को सदैव आत्मा के विषय में मिथ्या विवादों को छोड़ देने का उपदेश दिया है। आत्मा को नित्य, चेतन और ब्रह्म स्वरूप मानने से मनुष्य में मिथ्या अहंकार प्रवेश कर सकता है और वह कर्म-विमुख भी हो सकता है, अतएव उन्होंने आत्मा को एकरस और सनातन मानने से इंकार कर दिया। विज्ञानप्रवाह के अतिरिक्त कोई अदृश्य स्थायी द्रव्य नहीं है। शरीर के नष्ट हो जाने पर पंचस्कंध पंचभूत में मिल जाते हैं। मनुष्य एक समष्टि का नाम है। बुद्ध ने मनुष्य को पंच-स्कंध कहा है। ये पाँच स्कंध (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान) बदलने वाले तत्त्व हैं और मानव उनका

❀ प्रसिद्ध आंग्ल कवि शैली के शब्दों में—

Worlds on worlds are rolling ever, From creation to decay, Like the bubbles on a river, Sparkling bursting borne away.

संग्रह मात्र है। इस प्रकार बौद्ध लोग व्यक्तित्व को एक इकाई न मानकर समूहात्मक मानते हैं। व्यक्तित्व की यह व्याख्या आधुनिक मनोविज्ञान द्वारा प्रस्तुत व्याख्या से आश्चर्यजनक साम्य रखती है। विलियम जैम्स के 'मन' के समान बौद्ध दर्शन में आत्मा को विज्ञान-प्रवाह माना गया है।

बौद्ध दर्शन कर्म-स्वातंत्र्य, नैतिक प्रयत्न और स्वावलंबन पर अधिक जोर देता है। बौद्ध नीति की आधार शिला नैतिक स्वातंत्र्य है। व्यक्ति स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। अपने इच्छाधीन कर्मों से व्यक्ति स्वयं अपने निर्वाण का मार्ग बनाता है। कर्म ही वह कड़ी है जो हमारे जन्मों को एक दूसरे से जोड़ती है। बौद्ध दर्शन ने अनश्वर आत्मा के अस्तित्व का निषेध करते हुए भी कर्म की अविच्छिन्नता को माना है।

बौद्ध धर्म में तृतीय आर्य-सत्य दुःख-निरोध है। इसका अर्थ है—दुःख का नाश होता है। संसार अपने साधारण रूप में दुःखमय है, किन्तु दुःख ही जीवन की अंतिम नियति नहीं है। इस दुख का विनाश भी संभव है। प्रथम आर्य-सत्य की उपलब्धि में हमें जिस नैराश्यपूर्ण एवं करुणात्मक स्थिति का ज्ञान होता है, तृतीय आर्य-सत्य उस प्रसंग में आशा की उज्जवल किरण सदृश है जो यह प्रकट करता है कि रोग असाध्य नहीं है। यद्यपि मार्ग अत्यंत कठिन और लंबा है, परन्तु शान्त है। इस तृतीय सत्य के प्रसंग में बुद्ध ने निर्माण का विशद विवेचन किया है।

निब्बान या निर्वाण बौद्ध-धर्म और नीति शास्त्र का परम श्रेय है। निर्माण का शाब्दिक अर्थ है 'बुझा हुआ'। मनोविकारों को 'आग' कहा गया है। मनोविकारों के शांत होने की अवस्था आग के बुझ जाने के तुल्य है, अतः निर्वाण वह अवस्था है जिसमें लोभ, घृणा, क्रोध और मोह इन आगों का उपशमन हो जाता है। सारा संसार वासना की अग्नि में जल रहा है; इस अग्नि के बुझने का नाम ही निर्वाण है। निर्वाण की उपलब्धि ईश्वर की कृपा पर निर्भर नहीं है। गौतम बुद्ध ने अपने शिष्यों को गुरू या शास्त्रों पर अवलंबित रहने का परामर्श नहीं दिया वरन् उन्हें 'आत्मदीपो भव' का उपदेश देते हुए अपना कल्याण-मार्ग स्वयं खोजने पर जोर दिया। निर्वाण में कारण-शृंखला का सदा के लिए अंत हो जाता है। विज्ञान-संतान की अविच्छिन्नता इस जीवन के बाद समाप्त हो जाती है। निर्वाण को पूर्ण शान्ति की अवस्था कहा जा सकता है। पाली ग्रंथों में कहीं कहीं निर्वाण को आनंद की अवस्था कहा गया है। धम्मपद में निर्वाण को आनंद, चरम सुख, पूर्ण शान्ति तथा मनोविकारों से पूर्णतया मुक्त होने की अवस्था कहा गया है। मज्झिम निकाय में बुद्ध निर्वाण की तुलना ईंधनरहित अग्नि से करते हैं। इसीसे मिलता-जुलता विचार श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी मिलता है जहाँ परमात्मा को 'दग्धेन्धनमिवानलम्' कहा गया है।

निर्वाण इसी जीवन में प्राप्त किया जा सकना है। निर्वाण निष्क्रियता नहीं है। उसमें बौद्धिक और सामाजिक

जीवन संभव है। स्वयं बुद्ध का अपना जीवन इस बात का ज्वलंत प्रमाण है। कुछ विद्वान् निर्वाण का अर्थ व्यक्ति की सत्ता का पूर्ण विनाश के रूप में मानते हैं। हक्सले, ओल्डनबर्ग, फरकोहर और पूसिन निर्वाण को विनाश की स्थिति मानते हैं। किन्तु अधिकांश विद्वान् उपरोक्त बिचार से सहमत नहीं है। प्रो. मैक्समूलर और चाइलर्स का मत है कि निर्वाण का अर्थ कहीं भी 'विनाश' नहीं है। डा. दास गुप्ता के अनुसार निर्वाण को न तो निषेधात्मक कहा जा सकता है और न स्वीकारात्मक। वह एक अलौकिक और अवर्णनीय अवस्था है जो तर्क की सीमा से परे है। वास्तव में निर्वाण का अर्थ व्यक्तित्व के उन गुणों और बंधनों का नष्ट हो जाना है जो मनुष्य को भेदभाव से अनुप्राणित कर स्वार्थ की ओर प्रवृत्त करते हैं। नागसेन ने रूपक की भाषा में निर्वाण का चित्र खींचा है। निर्वाण कमल के समान निर्लेप, जल की भाँति शीतल एवं दुर्वासनाओं की अग्नि को बुझानेवाला है। समुद्र की तरह वह निस्सीम और गम्भीर है, और पर्वत की चोटी के समान वह उदात्त है। इस प्रकार निर्वाण का अर्थ है—नित्यता, आनंद, पवित्रता और स्वतंत्रता।

बुद्ध ने केवल दुःखों के कारण ही नहीं बतलाये बल्कि उन कारणों को दूर करने का मार्ग भी चौथे आर्य-सत्य (दुःख-निरोध-मार्ग) के अंतर्गत सुझाया। आठ अंग होने के कारण यह मार्ग अष्टांग-मार्ग कहलाता है। अष्टांगिक मार्ग पूर्णता की एक सीढ़ी है। विषय-भोग और तपस्या

की दोनों कोटियों को त्यागकर यह मिताचार का मध्यम मार्ग है। इस मार्ग का अनुसरण करके ही व्यक्ति निर्वाण प्राप्त कर सकता है। आत्म-कल्याण के जिज्ञासुओं को सम्यक् (सत्य) दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् , कर्म, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि वाला होना चाहिए। बौद्ध धर्म में शील, समाधि और प्रज्ञा को बहुत महत्त्व दिया गया है। निर्वाण प्राप्त होते ही पूर्ण प्रज्ञा, पूर्ण शील और पूर्ण शान्ति का उदय होता है। सबको प्राणी-मात्र के लिए मैत्री, दुःखियों के लिए करुणा, साधुओं के लिए मुदिता और असाधुओं के लिए उपेक्षा का भाव अपनाना चाहिये। इन इन चारों को ब्रह्मविहार अर्थात् उच्चतम भाव कहा गया है।

गौतम बुद्ध द्वारा प्रचारित धर्म स्वावलंबन और उदारता का धर्म है। उसमें जीवन की बाह्य और आंतरिक शुद्धता, हृदय की पवित्रता और आचरण की शालीनता पर बहुत जोर दिया गया है। इसका मार्ग सभी राष्ट्रों, जातियों और वर्णों के लिए खुला है। तर्क पर प्रतिष्ठित होने के कारण यहाँ रहस्यवाद को कोई स्थान नहीं है। गौतम बुद्ध का उद्देश्य अपने अनुयायियों को आध्यात्मिक विकास की एक योजना से अवगत कराना था, न कि उन पर सिद्धान्तों के समूह को लादना। उनकी शिक्षा में कट्टरता की भावना नहीं है, क्योंकि असहिष्णुता उनके लिए धर्म का सबसे बड़ा शत्रु थी। कई बार वे ब्राह्मण की यज्ञाग्नि के समीप प्रवचन

करते पाये जाते है, पर उस पद्धति की वे निन्दा नहीं करते। अत्यन्त सरलता के साथ वे अपने विचार प्रस्तुत करते थे तथा बलपूर्वक किसी को अपने धर्म में दीक्षित करने के विरुद्ध थे। उनका आचरण अत्यंत शिष्ट, सद्भावनायुक्त और विनोदप्रिय था। मनुष्य मात्र के प्रति उनके मन में अद्भुत सहिष्णुता थी। उनके उपदेशों में अहिंसा का बड़ा महत्त्व है। जीवन में अहिंसा पर उन्होंने विशेष बल दिया। इसे वैयक्तिक शील में प्रथम स्थान दिया। अहिंसा के लिए करुणा और मैत्री आवश्यक है।

संसार के दूसरे पैगम्बरों की भाँति उन्होंने अपने उपदेशों के लिए ईश्वरीय होने का दावा नहीं किया और न उन्होंने अपने अनुयायियों को स्वर्ग आदि की प्राप्ति का लोभ दिखाया। सतत आत्मनिर्भरता की शिक्षा देते हुए उन्होंने अंधविश्वास का सर्वत्र विरोध किया। उनका आकर्षक और प्रभावशाली व्यक्तित्व एवं मानवतावादी बुद्धिवाद उनकी सफलता का सब से बड़ा कारण था। यह कथन कि उनके मुखमण्डल में प्रतिफलित होने वाली सार्वभौम समवेदना ही उनकी सफलता का सबसे बड़ा कारण थी—निश्चय ही सत्य है।

आधुनिक युग सर्वत्र ही एक अभूतपूर्व परीक्षण का युग है। सभी ओर मनुष्यों के चिंतन में एक अद्भुत क्रान्ति है। परंपरागत धर्मों के बन्धन ढीले पड़ गये हैं, जड़वादी वैज्ञानिक तत्त्ववाद के निष्कर्ष भी आश्वासनकारी नहीं हैं, फलस्वरूप चारो ओर महान् हृदयमंथन परिलक्षित हो रहा

है। ऐसी अवस्था में सार्वभौम भ्रातृभाव के समर्थक, शांत, उदात्त तथा अनन्त करूणामय भगवान् बुद्ध के ममतापूर्ण, सच्चे हृदय से निःसृत कल्याणकारी उद्गार ही जड़वाद के निश्चित परिणामों से विह्वल, धार्मिक विश्वास जैसी किसी भी चीज के अयोग्य, शान्ति की इच्छुक जनता को सन्मार्ग की दिशा में प्रवृत्त कर सकते हैं। आज ऐसी विचारावली की ही अपेक्षा है।

अपमानपूर्वक हजार वर्ष जीने की अपेक्षा सम्मान के साथ एक घड़ी भर जीना अच्छा है।

— एमर्सन

समय परिवर्तन का धन है, परन्तु घड़ी उसका उपहास करती है। उसे केवल परिवर्तन के रूप में दिखाती है, धन के रूप में नहीं।

— रवीन्द्रनाथ ठाकुर

सत्यार्थी सत्यकाम

प्राध्यापक देवेन्द्रकुमार वर्मा

"माँ, मेरा गोत्र क्या है ?" वह अन्यमनस्क-सा पूछ उठा। न जाने कबसे आकर खड़ा था। उसका सुन्दर गौर मुख म्लान पड़ गया था। प्रशस्त भाल पर चिंता की रेखाएँ उभर आई थीं। पुत्र का यह रूप देख माता अवाक् सी रह गई। उसने पूछा, "बेटा, ऐसा क्यों पूछ रहा है ?" "आज मेरी बड़ी हँसी हुई, माँ ! मैंने अपने साथियों से कहा कि मैं भी ज्ञानार्जन के लिए गुरुकुल जाऊँगा। वे पूछने लगे, 'तुम्हारा गोत्र क्या है ?' मुझे गोत्र तो मालूम था नहीं। वे कहने लगे, 'पिता का पता नहीं और चले वेद पढ़ने। बिना गोत्र बताए गुरु दीक्षा ही नहीं देगें।' उन्होंने तरह तरह से मेरा उपहास किया। माँ, मेरे पिता कौन हैं ? तुमने पहले क्यों नहीं बताया ?" उलाहना भरे स्वर में वह बोल उठा।

पुत्र की ये बातें सुनकर जबाला हतप्रभ हो गई। उसका चेहरा विषण्ण हो गया। इतने दिनों तक जो भावनाएँ विस्मृति के गर्त में छिपी हुई थीं, पुत्र के प्रश्न ने उन्हें पुनः उभाड़ दिया। पुरानी स्मृतियाँ तीव्र गति से मानस-पटल पर उभरने लगीं।

उसे याद आने लगे वे दिन, जब वह नवयौवना थी। दुख और दारिद्र्य ने उसे परिचारिका बनने के लिए विवश

किया था। न मालूम कितने लोगों की सेवा उसने की होगी। सुन्दर, कुरूप, युवा, वृद्ध सभी प्रकार के लोगों कों जर्जरित हृदय लेकर तुष्ट करना पड़ा था। अधरों पर मुस्कान बिखेरते हुए सबका स्वागत करती किन्तु हृदय हाहाकार कर उठता। पश्चाताप की अनल-ज्वाला उसे जलाए जा रही थी। किन्तु क्या वह उन अनन्त करुणामय प्रभु को भूल पाई थी ? नहीं। वे ही तो उसके एकमात्र संबल थे। उनके विग्रह के सम्मुख उसने न जाने कितनी रातें अश्रु-पात करके बिताई थीं, अपनी समस्त दुर्बलताओं और व्यथाओं को निवेदित किया था। कई बार अपनी इस पाप-पंकिल देह को नष्ट कर देने की सोचती, पर गर्भस्थ शिशु का ख्याल कर रुक जाती। एक दिन सत्यकाम पैदा हुआ। मानों पंक में कमल खिला। उसका सुदर्शन मुख देखकर वह सारी व्यथा एकबारगी भूल गई और एक रात अपने पूर्व जीवन को सदा सर्वदा के लिए तिलांजलि दे पुत्र को लेकर निकल पड़ी। अनेक ग्रामों और जंगलों को पारकर यहाँ आ पहुँची थी।

सुन्दर वन-प्रान्तर था। पहाड़ों की गोद में बसा एक छोटा सा गाँव। गाँव से दूर नदी के किनारे उसने अपनी झोपड़ी बना ली थी। वनस्थली में फल तथा कन्दमूल बहुतायत से मिल जाते थे। गाँव से काम की चीजें परिश्रम करके पा जाती थी। यद्यपि अब उसके जीवन में ऐश्वर्य नहीं था पर मन की अद्भुत शांति थी जो बिरले लोगों को प्राप्त है। पुत्र के कांतिमय रूप को देखकर वह सारा दुख भूल

जाती। वही आज उसे छोड़कर जाने की बात कह रहा है। अचानक पुत्र के स्पर्श से उसकी तंद्रा टूटी। "क्या सोच रही हो, माँ !" सत्यकाम उसकी ओर अपलक निहार रहा था। उसकी अवस्था देखकर स्तंभित हो गया था। वह बोली, "बेटा ! तू मुझे छोड़कर चला जायेगा। मैं तेरे बिना कैसे रह सकूँगी ?" "मन छोटा न करो, माँ ! मैं शीघ्र ही वेदाध्ययन करके आ जाऊँगा। फिर तुम्हें छोड़कर कहीं नहीं जाऊँगा। बोलो माँ, आज्ञा दो।" आग्रह भरे शब्दों में सत्यकाम बोल उठा। उसकी तीव्र अभिलाषा को देख वह उसे रोक न सकी। आँखों से आँसू झरने लगे। रुँधे कंठ से उसने उसे सहमति प्रदान की।

माँ की आज्ञा पाकर सत्यकाम हर्ष से खिल उठा। ज्ञान-प्राप्ति की तरंगे सदैव से ही उसके हृदय में हिलोरें लेती रही थीं। जबसे होश सँभाला था, उसने अपने को प्रकृति की सुरम्य गोद में पाया था। प्रकृति के क्रियाकलापों को देखकर विभोर हो जाता। कलकलनिनादिनी सरिता, पक्षियों का सुमधुर गान, प्राची में लोल लोहित परिधान धारण किए हुए उषा का आगमन, संध्या समय प्रकृति का मौन आलाप, उसे किसी अदृश्य अपूर्व राज्य का संदेश सुनाते थे। नदी तट पर बैठा हुआ वह इस अदृश्य शक्ति के बारे में सोचता हुआ निमग्न हो जाता। दिन कब बितता पता नहीं चल पाता था। प्रकृतिके साहचर्य ने उसे एकाकी और अन्तर्मुखी बना दिया।

बिदाई की बेला थी। सत्यकाम ने पुनः गोत्र के बारे

में जिज्ञासा की। जबाला सिहर उठी। किन्तु शीघ्र ही अपने को संयत करते हुए बोली, "बेटा, मैंने अपने युवाकाल में अनेक पुरुषों को सेवा की थी और तुझे प्राप्त किया था। मैं नहीं जानती कि तेरे पिता कौन थे। तू गुरु से इतना ही कहना कि मेरा नाम सत्यकाम है तथा मेरी माँ का नाम जबाला है।" यह सुनते ही सत्यकाम को मानों काठ मार गया। तो क्या वह वेश्यापुत्र है?" समाज का कलंक! उसका सिर चकराने लगा। माँ अपराधिनी-सी उसके सामने खड़ी थी। उसकी दयनीय आँखें कह रही थीं, "बेटा क्षमा करो।"

माँ की यह दशा देखकर सत्यकाम उसके पैरों में लिपटकर रो उठा। वह भी अपने आपको न रोक सकी। धैर्य का बाँध टूट गया। उसे छाती से चिपटा कर बिलख उठी। सत्यकाम ने अपने आपको संयत किया। आखिर वह उसकी जननी है, परमाराध्या है। चिरदुःखिनी माँ, जिसने अपने समस्त सुखों की तिलांजलि दे दी उसके लिए। श्रद्धा से उसका हृदय पूरित हो उठा। माँ को पुनः प्रणाम करके चल पड़ा।

हारिद्रुमित गौतम ऋषि का नाम अपनी साधुता और विद्वता के लिए विख्यात था। दूर दूर के विद्यार्थी उनके पास वेदाध्ययन के लिये पहुँचते थे। वे प्रेम और करुणा की मूर्ति थे। ज्ञान के अगाध सागर थे। सत्यकाम ने उनकी महिमा सुनकर उन्हें गुरु रूप में स्वीकार किया था। दिन भर का थका-हारा सत्यकाम जब आश्रम के निकट पहुँचा,

तब दिन ढल चुका था। आश्रम सुरम्य वृक्ष-लताओं से घिरा हुआ था। फूलों की भीनी सुगंध सारे वातावरण में फैल रही थी। मृगशावकों के झुण्ड इधर से उधर चौकड़ियाँ भर रहे थे। पक्षियों के मधुर कलरव से तपोवन गूँज रहा था। साथ ही गूँज रही थी, तापस कुमारों द्वारा उच्चारित गंभीर वेदवाणी। सत्यकाम का हृदय आनन्द से भर गया। उसकी सारी थकान जाती रही।

गौतम मुनि शिष्यों के साथ बैठे थे। सत्यकाम ने भूमिष्ठ हो उन्हें प्रणाम किया। उसका तेजस्वी और प्रशान्त मुख देख ऋषि बड़े प्रसन्न हुए। उसे बैठने का संकेत कर वहाँ आने का अभिप्राय पूछा। सत्यकाम ने नम्रतापूर्वक अपनी इच्छा निवेदित की। ऋषि बोले, "वत्स, मैं तुम्हें अवश्य शिष्यत्व प्रदान करूँगा। उपनयन-संस्कार के बाद तुम्हें ब्रह्मचर्य-व्रत की दीक्षा दी जायेगी। अच्छा, तुम्हारा गोत्र क्या है ?" वही कटु सत्य, सत्यकाम के संमुख था। क्षणभर के लिए वह विचलित हो उठा। सिर नीचा किए हुए विनम्र भाव से बोला, "गुरुदेव ! मेरा गोत्र क्या है, मैं नहीं जानता। यौवनावस्था में मेरी माता ने अनेक लोगों की सेवा की थी। अतः नहीं मालूम मेरे पिता कौन थे। मेरा नाम सत्यकाम है तथा मेरी माँ का नाम जबाला है।" इतना बोलकर वह चुप हो गया। शिष्यों में यह सुनकर खुस-फुस होने लगी। सत्यकाम की दृष्टि उधर गई। मुँह पर हाथ दिये कुछ लोग हँस रहे थे। सबके चेहरे पर अवज्ञा के भाव भरे थे। उनकी आँखें मानों कह रही थीं, "इस

दुष्ट की इतनी धृष्टता, इतना दुःसाहस !" सत्यकाम उधर देख न सका। पसीने की बूंदें उसके माथे पर झलक उठीं। ग्लानि से उसका मुख नीचे हो गया। अचानक कोमल स्पर्श पा उसकी दृष्टि ऊपर गई। गौतम मुनि उस पर स्नेह-पूर्वक हाथ फेर रहे थे। गुरु का यह कार्य देख शिष्यगण चकित थे। ऋषि प्रेमपूर्ण दृष्टि से उसकी ओर देखते हुए बोले, "बेटा, तू वास्तव में ब्राह्मणपुत्र है। ब्राह्मणेतर कोई भी इस प्रकार का सत्यभाषण नहीं कर सकता। तूने अपमान और अवज्ञा की परवाह नहीं की। तू सचाई से नहीं डिगा। तुझमें उत्तम शिष्य के समस्त गुण हैं। तू वेदज्ञान का सच्चा अधिकारी है।" गुरु के मुख से अपनी प्रसंसा सुनकर सत्यकाम साधुसम्मत संकोच से भर गया। गुरु की कृपा पाकर वह आह्लादित हो उठा। इसी समय माँ की करुणामयी मूर्ति स्मरण हो आई। मन ही मन वह श्रद्धा-नवत हो झुक गया।

दूसरे दिन गुरु ने शास्त्रोक्त विधि से उसका उपनयन-संस्कार कर उसे ब्रह्मचर्यव्रत में दीक्षित किया। वे बोले, "वत्स, आज से तुम्हारा नवीन जीवन प्रारम्भ होता है। ज्ञानार्जन रूपी व्रत को तुमने धारण किया है। गुरु के प्रति एकात्मभावी निष्ठा तथा मनसा वाचा कर्मणा उनके उपदेशों का पालन तुम्हें उन्नति की ओर अग्रसर करता रहेगा। विवेक और वैराग्य रूपी प्रदीपों को सदैव प्रज्वलित रखना। इनकी ज्वाला से काम-क्रोधादि षड्रिपु नष्ट हो जायेंगे। वे परमपद का मार्ग आलोकित करते रहेंगे।"

गुरु को दक्षिणा देने के लिए बालक के पास तो कुछ था नहीं। गौतम ऋषि उसे चार सौ जीर्ण गायें सौंपते हुए बोले, "वत्स! इन गायों का उत्तरदायित्व तुम्हारे ऊपर है। इन्हें लेकर तुम किसी उपयुक्त स्थान में चले जाओ। वहाँ इनकी देखभाल करना। अपना दैनन्दिन संध्यादि कर्म भी नियमित रूप से किये जाना।"

सत्यकाम ने विनीत भाव से कहा, "जो आज्ञा, भगवन्! जब तक इनकी संख्या एक हजार न हो जायेगी, तब तक नहीं लौटूँगा।"

चार सौ गायों को लेकर वह किशोर बालक आश्रम से चल पड़ा। गुरु के उपदेश उसके कानों में गूँज रहे थे। माँ की याद रह-रहकर आ रही थी। गुरुकुल में उसे रहने का अवसर नहीं मिल पाया था। ब्रह्मचारी सखाओं से परिचय भी नहीं हो पाया था। कहाँ वह वेदाध्ययन के लिए आया था और कहाँ उसे गोपाल बनाकर भेज दिया गया। 'जो हो," उसके विचारों ने पलटा खाया, "गुरु ने उसके कल्याण के ही लिए यह आदेश दिया है। उसका पालन ही उसके लिए अभीष्ट कर्म है। ये गाय ही अब उसके लिए सर्वस्व है और उनकी सेवा ही उसका एकमात्र कार्य है।"

कई दिनों के पश्चात् वह एक मनोरम स्थल में पहुँचा। पहाड़ों की ढाल पर हरित तृणों से आच्छादित विस्तृत भूमि थी। एक ओर उत्तरवाहिनी नदी उपत्यकाओं के बीच से होती हुई बह रही थी। दूसरी ओर हरे-भरे वृक्ष-लताओं

से वेष्टित वनस्थली थीं। उपयुक्त स्थल देखकर उसने वहीं रुकने का निश्चय किया।

गायों की सेवा-शुश्रूषा, वेद-पाठ और ध्यान-धारणा में उसके दिन व्यतीत होने लगे। नदी के निर्मल जल में वह गौओं को मल-मलकर स्नान कराता। नये नये स्थानों में उन्हें चराने ले जाता। गायों को भी उससे अनुपम प्रेम था। उसके पास आकर वे प्रेम से उसका शरीर चाटने लगतीं। बछड़े उसके चारों ओर चौकड़ियाँ भरते। उनको चरने के लिए छोड़कर वह किसी वृक्ष तल बैठा हुआ ईश्वर-चिंतन में लग जाता। चहुँ ओर फैली हुई हरीतिमा युक्त पहाड़ियों से टकराकर उसका मन हृदयगुहा में अवस्थित उस परम पुरुष के चरणों में लीन हो जाता। संध्या आती अपनी लालिमा लिए हुए। नदी तट पर संध्या वंदना करते हुए जब वह वेद पाठ करता, तब नदी का कलकल स्वर उसकी मधुर गंभीर ध्वनि में तिरोहित हो जाता। इस प्रकार दिन पर दिन, मास पर मास और वर्ष पर वर्ष व्यतीत होते गए। वह कठोर साधना में रत था। यहाँ तक कि गुरु और माता की भी स्मृति मन से उतर गयी। एकमात्र गो-सेवा ही उसका धर्म था।

एक दिन वह संध्योपासना करके बैठा हुआ था। अंशु माली की रक्ताभ किरणें धीरे धीरे विदा ले रहीं थीं। "सत्यकाम," एक गुरु गम्भीर आवाज उसे सुनाई पड़ी। मानव-स्वर में अपने नाम का उच्चारण सुनकर वह आश्चर्य से विह्वल हो उठा। चारों ओर घूमकर देखा, कोई दिखाई

नहीं पड़ा। इस निर्जन में मानव की आवाज! वह सोच ही रहा था कि उसे सुनाई पड़ा, "सत्यकाम, अब हमारी संख्या एक हजार हो गई है। तुम्हारा संकल्प पूरा हुआ। अब हमें गुरुगृह ले चलो।" जिधर से आवाज आई, उधर मुड़कर उसने देखा। एक विशाल वृषभ मनुष्य की भाषा में बोल रहा था। उसके विस्मय का ठिकाना न रहा। वृषभ पुनः बोला, "वत्स! मैं वायु हूँ। इस वृषभ के माध्यम से बोल रहा हूँ। तुम्हारी निष्ठा और अपूर्व तपश्चर्या देखकर मैं बहुत प्रसन्न हूँ। मैं तुम्हें उस अनिर्वचनीय ब्रह्म के एक पाद की शिक्षा दूँगा।" वायुदेव की महती कृपा पाकर वह गद्‌गद् हो गया। विनीत भाव से बोला, "कहिए प्रभु!" वायुदेव बोले, "वत्स, उत्तर दिशा ब्रह्म का एक अंश है, दक्षिण दिशा ब्रह्म का एक अंश है। पूर्व और पश्चिम दिशाएँ भी ब्रह्म के एक-एक अंश हैं। ये चारों अंश मिलकर ब्रह्म का प्रथम पाद हैं। इस पाद को प्रकाशवान् कहते हैं। जो ब्रह्म की प्रकाशवान् के रूप से उपासना करते हैं, वे इस जीवन में यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर धन्य हो जाते हैं और मृत्यु के उपरान्त प्रकाशमय लोकों की ओर प्रयाण करते हैं। मैंने ब्रह्म के प्रथम पाद का उपदेश दिया। ब्रह्म के दूसरे पाद का उपदेश अग्निदेव करेंगे।" यह कहकर वायुदेव अन्तर्धान हो गए।

दूसरे दिन प्रत्यूष में सत्यकाम समस्त गायों को लेकर गुरुकुल की ओर चल पड़ा। संध्या के समय एक जलाशय के किनारे उनकी व्यवस्था करके वह अपनी दैनन्दिन संध्यो-

पासना की तैयारी में लग गया। अग्नि प्रज्वलित करके जब वह बैठा, तो उसने देखा कि एक ज्योतिर्मय दिव्य पुरुष अग्नि शिखाओं के बीच में अवस्थित हैं। वह समझ गया कि ये ही अग्निदेव हैं। उसने सश्रद्ध झुककर उन्हें प्रणाम किया। अग्निदेव बोले, "वत्स, मैं तुम्हें ब्रह्म के दूसरे पाद का उपदेश दूँगा।" सत्यकाम बोला, "कहिए, भगवन्!" अग्निदेव बोले, "हे सोम्य, यह पृथ्वी ब्रह्म का एक अंश है, अन्तरिक्ष एक अंश है, स्वर्ग एक अंश है तथा समुद्र एक अंश है। चार कलाओं से युक्त ब्रह्म का यह पाद अनन्तवान् के रूप से जाना जाता है। जो ब्रह्म की उपासना अनन्तवान् के रूप से करते हैं वे इस जीवन में असीम गौरव प्राप्त करते हैं और मरणोपरान्त अक्षम्य लोकों की ओर प्रयाण करते हैं।" अग्निदेव की गुरु गंभीर ध्वनि सुनकर सत्यकाम की हृदय ग्रंथियाँ छिन्न-भिन्न हो रही थीं। उसके मनश्चक्षु पर पड़े पर्दे दूर हो रहे थे। उसका मुख और भी देदीप्यमान हो उठा। अग्निदेव बोले, "वत्स, हंसरूपी सूर्य तुम्हें ब्रह्म के तीसरे पाद का उपदेश देंगे।"

यात्रा से क्लान्त सत्यकाम बैठा हुआ था। शरीर चूर-चूर हो रहा था किन्तु मन अनिर्वचनीय आनन्द में मग्न था। ब्रह्म की उपासना में वह डूबा हुआ था। एक हंस उड़ता हुआ आया और उसके समीप बैठ गया। वह बोला, "वत्स, मैं तुम्हें ब्रह्म के तृतीय पाद का उपदेश दूँगा।" सत्यकाम जान गया कि ये ही सूर्यदेव हैं। उन्हें प्रणाम करके बोला, "कहिए भगवन्!" हंस ने कहा, "हे सत्यकाम

अग्नि, सूर्य, चन्द्र और विद्युत् ये ब्रह्म के तीसरे पाद की चार कलाएँ हैं। इसे ज्योतिष्मान् कहा जाता है। जो ब्रह्म की ज्योतिष्मान् रूप से उपासना करते हैं वे इस लोक में प्रकाशवान् होते हैं और मरने के पश्चात् ज्योतिर्मय लोकों में जाते हैं। ब्रह्म के चतुर्थ पाद का उपदेश तुम्हें मद्गु देगा।' 'यह कहकर हंस अन्तर्धान हो गया।

चौथे दिन संध्या समय सत्यकाम अग्नि प्रज्वलित करके पूर्वाभिमुख हो बैठा था। इतने में प्राणदेव मद्गु नामक जलपक्षी के रूप में उपस्थित हुए। "सत्यकाम !" वे बोले, "मैं तुम्हें ब्रह्म का चतुर्थ पाद बतलाऊँगा।" सत्यकाम बोला, "कृपा कीजिए प्रभु !" प्राण देवता बोले, "हे प्रियदर्शन, प्राण ब्रह्म का एक अंश है, चक्षु एक अंश है, श्रवण एक अंश है, मन एक अंश है। चार अंशों से युक्त ब्रह्म का यह चतुर्थ पाद आयतनवान् कहलाता है। जो ब्रह्म की आयतनवान् रूप से उपासना करता है, वह इस लोक में श्रेष्ठ आश्रय प्राप्त करता है तथा मृत्यु के उपरान्त आयतन-वाले लोकों की प्राप्ति करता है।" इतना कहकर मद्गु पक्षी उड़ गया। सत्यकाम का मुख ब्रह्मतेज से उद्भासित हो उठा।

कुछ दिनों के पश्चात् हजार गायों को लेकर वह आश्रम में उपस्थित हुआ। गुरु उसे देखकर परम प्रसन्न हुए। उसके चेहरे पर आलोक देखकर वे चकित से रह गये। उन्होंने कहा, "बेटा ! तुम्हारा मुख ब्रह्मवेत्ता की भाँति चमक रहा है। ज्ञात होता है, तुमने ब्रह्मज्ञान लाभ कर लिया है।" "हाँ भगवन् ! यह आपकी कृपा का फल है" सत्यकाम

बोला, "किन्तु यह ज्ञान मुझे किसी मनुष्य द्वारा प्राप्त नहीं हुआ, देवताओं ने मुझ पर कृपा की। हे देव, मैंने सुना है कि आप जैसे ब्रह्मनिष्ठ आचार्य द्वारा प्राप्त की गई विद्या ही श्रेष्ठ होती है। अतः आप मुझ पर कृपा करके इसका उपदेश दीजिए, यह मेरी हार्दिक अभिलाषा है।" उसकी गुरुनिष्ठा देख ऋषि गद्गद् हो गये। वे बोले, "बेटा, तेरी श्रद्धा और पवित्रता के ही कारण देवों ने तुझपर कृपा की। तू जैसा चाहेगा वही होगा।"

आचार्य द्वारा सोलह कलाओं से युक्त इस ब्रह्म तत्त्व का उपदेश प्राप्त कर सत्यकाम ने ब्रह्मज्ञ पद प्राप्त कर लिया। जबाला पुत्र सत्यकाम महर्षि बन गये।

दुःख छोटे मनुष्यों को वशीभूत कर उन्हें निस्तेज कर देता है, परन्तु महान् पुरुष दुःख से ऊपर उठ जाते हैं।

—वाशिंगटन अर्विंग

उत्तरी अमेरिका में नारी

श्रीमती निर्मला शुक्ल, कोलम्बस, ओहियो (अमेरिका)

उत्तरी अमेरिका विश्व में आज सर्वोन्नत राष्ट्र है। वैज्ञानिक, तान्त्रिक, औद्योगिक आदि सभी क्षेत्रों में यह देश भारत की तुलना में ही नहीं अपितु अनेक यूरोपीय देशों से भी दशाब्दियों आगे है। इस प्रगतिशील देश में नारी-जीवनधारा किस गति से एवं किस दिशा में बह रही है यह विचारणीय है।

कोलम्बस द्वारा नये विश्व की खोज के बाद यूरोप के प्रायः सभी देशों के लोग अच्छे भविष्य की खोज में इस महाद्वीप में आते गये। प्रारम्भ में अमेरिका का निर्माण करने वाले वे लोग थे जो यूरोपीय स्वदेश में दलित एवं निम्न वर्ग के थे। पर इस शताब्दि के प्रारम्भ से यूरोप का उच्चवर्ग भी अमेरिका की ओर आकर्षित होता रहा है। इसीलिये अमेरिका में नारी-जीवन के इतिहास का यूरोपीय नारी-जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

प्रथम महायुद्ध के समय तक अमेरिकन नारी का कार्य-क्षेत्र केवल घर था। शिक्षा की उसे आवश्यकता नहीं थी और सब दृष्टियों से वह पति की दासी थी। पर आज उसके लिये वे सारे क्षेत्र खुले हैं जो पुरुषों के लिये हैं और वह पति की दासी नहीं, उसकी सहचरी है। सभी प्रकार से अमेरिकन नारी को पुरुष के समान अधिकार प्राप्त

हैं। खैर, अब तो संसार के अधिकांश देश इस बात का दावा कर सकते हैं।

एक सर्वसाधारण अमेरिकन गृहिणी की दिनचर्या कुछ इस प्रकार होती है। प्रातः ६-७ बजे वह सोकर उठती है। प्रातःकर्म से निपटकर वह सबके लिये नाश्ता तैयार करती है। ब्रेकफास्ट एक मुख्य भोजन ही होता है। भोजन को संतुलित बनाने का यहाँ अधिक से अधिक प्रयत्न किया जाता है। ब्रेकफास्ट में—फलरस, दूध के साथ सीरियल (चावल, गेहूँ अथवा मका), मक्खन अथवा जैम के साथ टोस्ट, अण्डा व हैम होता है। तत्पश्चात वह पति के लिये, स्कूल जाने वाले बच्चों के लिये तथा स्वयं के लिये डब्बे में लंच रखती है। लंच के लिये सब्जी, मांस अथवा पनीर के सैण्डविचेस, फल, काफी आदि रखे जाते हैं। यदि परिवार में शिशु हो तो उसे बेबीसीटर की निगरानी में छोड़ दिया जाता है। पति और बच्चे को क्रमशः आफिस एवं स्कूल भेजने के बाद वह स्वयं अपने काम पर चली जाती है। वह फैक्टरी, कार्यालय, स्कूल या दुकान की कर्मचारिणी होती है। यहाँ सभी जगह काम ८ बजे सबेरे प्रारम्भ होता है। वह १२ से १ बजे दोपहर की छुट्टी के समय आफिस में ही घर से लाई हुई भोज्य सामग्री का लंच करती है। यदि घर से वह लंच नहीं लाई होती तो आसपास के किसी होटल, केन्टीन या व्हेन्डिग मशीन से लंच खरीदती है। पाँच बजे कार्यालय बन्द होने के पश्चात् घर आकर वह 'डिनर' या 'सपर' तैयार

करती है। यह दिनभर का सबसे मुख्य भोजन होता है। इस भोजन की तैयारी में वह अपने पाकशास्त्र के ज्ञान का सदुपयोग करती है। तश्तरियाँ धोने एवं घर की सफाई के बाद टेलीविज़न के पास बैठकर परिवार के साथ विचारों का आदान प्रदान होता है। बच्चे ९ बजे तक सुला दिये जाते हैं। शॉपिंग का काम प्रायः सप्ताहांत में होता है;

चूँकि यहाँ अधिकांश महिलाएँ आफिसों या दुकानों में काम करती हैं अतः उन्हें भोजन बनाने के लिये कम समय रहता है। उनकी सुविधा के लिये यहाँ सुपर मार्केट्स में बना बनाया भोजन 'कैन्ड' मिलता है। उसे केवल गर्म करने की आवश्यकता होती है और भोजन तैयार हो जाता है। चूँकि अमेरिका में अनेक राष्ट्रीयता के लोग आये अतः सारे देशों की भोज्य सामग्रियाँ यहाँ उपलब्ध हैं। इटेलियन भोजन यहाँ सर्वाधिक प्रिय है। इटेलियन व्यंजन भारतीय भोजन के समीप होते हैं। कहा जाता है कि इटे-लियन भोजन, स्पेनिश संगीत और फ्रेन्च शराब यहाँ लोकप्रिय हैं।

ठण्ड के दिनों में सप्ताहांत की छुट्टी में (शनिवार और इतवार को) परिवार के सब सदस्य स्कीइंग, स्केटिंग अथवा किसी 'इनडोर' खेल के लिए चले जाते हैं। गर्मी में शहरों से दूर किसी झील, नदी या समुद्र तट पर तैरने, नौका विहार और धूपस्नान के लिये जाते हैं। कार के पीछे 'ट्रेलर' भी, जो एक चलता फिरता घर ही होता है, साथ में

ले जाते हैं, अन्यथा अपने साथ 'टेन्ट' रख लेते हैं। भोजनादि भी वहीं बनाकर खाते हैं।

घर की सफाई, जैसे फर्श धोना, उसपर वैक्स लगाना, गलीचे सोफासेट आदि को 'व्हैक्यूम क्लीनर' से साफ करना, कपड़ा धोना, आदि भारी काम सप्ताहांत में किये जाते हैं। ये सब काम गृहिणी स्वयं करती है क्योंकि नौकर रखना बहुत महँगा पड़ता है। कभी कभी इन कामों में पति की सहायता भी मिल जाती है। बाहर काम करने वाली कुछ महिलाओं के लिए यह सब करना कभी कभी दुस्सम्भव हो जाता है। ऐसी स्थिति में वे पैसे देकर अन्य स्त्रियों से, जिनका यह पेशा ही होता है, काम करा सकती हैं।

ऐसी अनेक महिलाएँ हैं जो बाहर काम नहीं करतीं और पूर्णरूपेण गृहस्वामिनी होती हैं। वे गृहस्थी के बाद बचा हुआ समय सामाजिक कार्यों अथवा जनसेवा में लगाती हैं। वाय० डब्ल्यू० सी० ए०; चर्च आदि में ऐसी कुछ समितियाँ हैं जहाँ ऐसो महिलाएँ निःशुल्क काम करती हैं। इन महिलाओं की कार्यप्रणाली बड़ी ही सराहनीय है। पद के लिए अथवा महत्ता दर्शाने के लिये झगड़े नहीं देखे जाते बल्कि बड़ा ही प्रेमपूर्ण वातावरण रहता है।

नारी जीवन के कुछ ऐसे पहलू भी हैं जिनका प्रभाव अमेरिकी समाज में एक अभिशाप के रूप में विद्यमान है। शिशु जन्म लेते ही यहाँ अलग कमरे में रखा जाता है। वह माता पिता के कमरे में बिना अनुमति लिये जा नहीं सकता।

लड़कियों के लिए अलग कमरा होता है और लड़कों के लिये अलग। मेरी एक सहेली के एक लड़का है। वह दूसरे बच्चे की माँ होने वाली है। वह दूसरा बच्चा भी लड़का ही चाहती है ताकि उन्हें तीन 'बेडरूम' वाला 'एपार्टमेन्ट' न लेना पड़े। मनोवैज्ञानिकों की राय है कि अलग कमरे में रहना जहाँ बच्चों में आत्मनिर्भरता लाता है वहीं वह ढीले परिवारिक संस्कार का भी कारण है। अधिकांश बच्चों की माताएँ बाहर काम करती हैं अतः उन्हें दिन भर 'बेबीसीटर' के पास रहना पड़ता है। स्वाभाविक ही वे बेबीसीटर को आदर्श मानकर उसके प्रत्येक गुणाव-गुण को अपनाने का प्रयत्न करते हैं। इस तरह उन पर माता-पिता का नहीं अपितु बेबीसीटर का संस्कार पड़ता है। इस समाज में gavenile delin quency (किशोरों में अपराध की प्रवृत्ति) बहुत अधिक मात्रा में होने का कारण भी शायद यही है। सामाजिक ढाँचा कुछ ऐसा है कि बच्चों में माता, पिता और गुरुजनों के लिये जो आदर अपेक्षित है, उसका यहाँ अभाव है। टीनएंजर (षोड़सी) लड़कियों में इसीलिये हमें बड़ी अनुशासन-हीनता दिखती है। हाईस्कूल पहुँचने तक यहाँ की किशोरियों को काफी स्वतंत्रता मिलने लगती है। स्कूलों में ही अनेक अवसरों पर सहपाठी लड़कों के साथ नृत्य का आयोजन होता है। १४-१५ वर्ष की उम्र में 'डेट' जाना प्रारम्भ हो जाना है। सप्ताहांत की रात्रि में १२–१ बजे तक अपने लड़के साथी के साथ वे घूमती रहती हैं। यही उम्र है जब

इनकी उच्छृंखलता पराकाष्ठा पर पहुँचती है। ऐसा लगता है मानों माता-पिता का उनपर कोई अनुशासन ही नहीं है। षोड़सी लड़कियाँ अनुशासनहीनता एवं विचित्र व्यवहार के लिये कुख्यात हैं। इनका दल साइड-वाक (Side walk) पर, बस में, सिनेमा में या होटल में ऐमी बुरी तरह पेश आता है कि हमारे यहाँ के लड़के भी उन्हें देखकर लज्जित हो जायँ ! भारतीय आँखों में यह दृश्य विचित्र सा लगता है। कहाँ भारत की लजीली, छुइमुई सी षोड़सीबाला और कहाँ यहाँ की उन्मादिनी और उच्छृंखल तरुणी !

अनेक लड़के लड़कियाँ हाईस्कूल उम्र में ही विवाह कर लेते हैं। इसीलिये उनकी शिक्षा समाप्त हो जाती है किन्तु कुछ ऐसी भी लड़कियाँ हैं जो स्वयं नौकरी करके अपने पति की, विश्वविद्यालयीन शिक्षा पाने में, सहायक होती हैं। अनेकों अविवाहित तरुणियाँ माताएँ बन जाती हैं। यहाँ के अस्पताल में एक भारतीय डाँ० प्रकाश हैं। उनका कहना है कि उनके अस्पताल में एक तिहाई बच्चे अविवाहित लड़कियों से होते हैं। यह औसत शायद सारी अमेरिका के लिये भी ठीक होगा। गनीमत यह है कि ऐसे अधिकांश बच्चे निस्संतान दम्पत्तियों द्वारा गोद ले लिये जाते हैं और कुछ बच्चे अनाथालय भेज दिये जाते हैं।

स्त्री चाहे किसी भी देश की क्यों न हो, यह अबला है। यहाँ भी पति पाने के लिए लड़की को सब कुछ न्यौछावर करना पड़ता है। भावी पति का मन जीतने के लिए लड़की को साज-शृंगार के सिवाय हमेशा स्मित-मुख

एवं व्यवहार-कुशल दिखना चाहिये। जीवन-साथी ढूँढ़ने का उत्तरदायित्व स्वयं उस पर रहता है। माता-पिता इस दिशा में उसको कुछ भी सहायता नहीं कर सकते। विवाह के पूर्व वह अनेक लड़कों से 'डेट' करती है। जब लड़की एक ही लड़के से लगातार डेट करने लगती है तब उसे 'स्टेडी' (steady) जाना कहते हैं। इसका तात्पर्य यह होता है कि वे एक दूसरे को जीवन साथी बनाने के लिये तैयार हो गये हैं। इसी समय लड़का लड़की को सगाई की अँगूठी (Engagementring) देता है। अनेक लड़कियों को डेट नहीं मिलता। ऐसी लड़कियाँ या तो जीवन भर अविवाहित रहती हैं अथवा अन्य वर्ण के लोगों से विवाह कर लेती हैं। कुछ ऐसी अविवाहित स्त्रियाँ भी हैं जो जीवनभर अपने समवयस्क पुरुषों से डेट करती ही रह जाती हैं। अनेक विवाह तो तब होते हैं जब लड़की माँ बनने की तैयारी कर चुकी होती है। कालेज में पढ़ने वाली अधिकांश लड़कियों का मुख्य उद्देश्य यही होता है कि उन्हें कालेज में शिक्षा प्राप्त लड़का मिल जाय।

विवाह की तिथि भावी दम्पति ही तय करते हैं। विवाह प्रायः शनिवार या रविवार को होता है क्योंकि उस दिन छुट्टी रहती है। शादी में लड़की के 'गाउन', फूल आदि का खर्च उसके परिवार वाले देते हैं। लड़की की दो सहेलियाँ उसकी मेड (Maid) का काम करती हैं और लड़के के मित्र बेस्टमेन (Bestmen) का। चर्च में शादी का काम प्रायः आधा घण्टे का होता है। उसके बाद नवदम्पति 'हनीमून' के लिये चले जाते हैं।

विवाह के बाद स्त्री की स्थिति बदल जाती है। वह शादी के पहले जितनी ही कमजोर होती है अब उतनी ही सबला बन जाती है। नवदम्पति के सामने अब अनेक समस्याएँ भी होती हैं। गृहस्थी बसाने की सारी जिम्मेदारी उन्हीं पर होती है। घर खरीदने, उसे फर्निश करने, मोटरकार खरीदने आदि के लिये यहाँ बैंक से अथवा सम्बन्धित व्यापारियों से उचित किश्तों पर ऋण मिल जाता है। इस कर्ज से मुक्ति के लिये सर्वसाधारण दम्पतियों में पति-पत्नी दोनों को नौकरी करनी पड़ती है। अधिकांश दम्पति कुछ वर्षों तक परिवार-नियोजन भी करते हैं।

फैशन यहाँ हमेशा परिवर्तनशील है। एक अमेरिकन महिला ने एक बार मुझसे कहा कि हम भारतीय नारियाँ सौभाग्यशालिनी हैं क्योंकि हम शताब्दियों से साड़ियाँ पहन रही हैं, जब कि यहाँ स्त्री-वेशभूषा की हर वस्तु रोज बदल रही है। शायद उसे नहीं मालूम कि फैशन के परिवर्तन की गति हमारे देश में भी तीव्र होती जा रही है। इस देश में फैशन परिवर्तन का साथ केवल तरुणियाँ ही नहीं बल्कि वयोवृद्ध महिलाएँ भी देती हैं। यह बात सराहनीय है कि किसी भी वेशभूषा या साजश्रृंगार की टीका-टिप्पणी नहीं की जाती बल्कि नई भूषा पहनने वाली के सन्मुख उसको सराहने की ही प्रथा है।

यहाँ नारी के जीवन में नारी के मातृत्व की नहीं अपितु उसके प्रेमिका-रूप की प्रधानता है। इसीलिये

अनेक वर्षों के वैवाहिक जीवन की अथवा अपने बच्चों के भविष्य की परवाह किये बिना अनेक वयस्क महिलाएँ भी पुनर्विवाह कर लेती हैं, केवल इसलिये कि उन्हें किशोरावस्था की प्रेमलीला अब अपने वयस्क पति से नहीं वरन् अन्य पुरुष से मिलने लगती हैं। इसके लिये यहाँ के टेलीविजन, रेडियो, पत्रिकाएँ आदि भी दोषी हैं। किसी भी वस्तु का विज्ञापन देखिये, उसमें स्त्री अवश्य रहेगी—चाहे वह सिगरेट का हो, पुरुषों के लिये हेयरक्रीम का हो अथवा कार का हो। ऐसा लगता है मानो यहाँ स्त्री-जीवन का लक्ष्य केवल पुरुषों को आकर्षित करना है। कुछ समय पूर्व श्रीमती हैपी मर्फी ने, जो चार बच्चों की माँ थीं, अपने वैज्ञानिक पति को छोड़कर न्यूयार्क के गवर्नर श्री रॉकफेलर से विवाह कर लिया। श्री रॉकफेलर ने भी अपनी पहली पत्नी को, जो उनके चार बच्चों की माँ थीं, तलाक दे दिया। फोर्ड मोटर कम्पनी के स्वामी श्री हेनरी फोर्ड (द्वितीय) भी पुनर्विवाह करने वाले हैं, ऐसा समाचार है। इस तरह यह विवाह-विच्छेद का सामाजिक रोग सारे अमेरिकन जीवन के विषाद का कारण है।

नृत्यगृह में पति-पत्नि को दूसरे स्त्री पुरुषों के साथ नाचना पड़ता है। इससे उनका अन्तर्मन कदापि खुश नहीं होता। पर अनादिकाल से चली आई समाज की यह प्रथा उन्हें निभानी पड़ती है और प्रकट में खुशी भी दिखानी पड़ती है।

यहाँ विवाह-विच्छेद की समस्या संसार के अन्य

देशों की अपेक्षा कहीं अधिक है। यह रोग कितने ही परिवारों के एवं कितने ही अबोध बालक-बालिकाओं के भविष्य के सर्वनाश का कारण है। ऊपर से आकर्षक, चमक दमक लिया हुआ और संसार में सबसे ऊँचे जीवन स्तर का उपभोग करने वाला अमेरिकन समाज वास्तव में कितना खोखला है !!

यहाँ इन्टरनेशनल स्टूडेन्ट्स वाइव्स एसोसियेशन (International Students' Wives Association) नामक हमारी एक छोटी सी संस्था है। उसकी कार्यकारिणी में एक अमेरिकन महिला भी हैं। बड़े सम्पन्न घर की हैं वे। उनके पति कोलम्बस शहर के अग्रगण्य व्यापारीवर्ग में से हैं। एक मीटिंग के लिये वे मुझे 'पिक-अप' करने आईं। रास्ते में उन्होंने एक अनाथालय के सामने कार रोकी। उन्होंने बताया कि उनकी एक नातिन वहाँ रहती है, जिसका आज जन्मदिन है। अतः उसको उपहार देना था। मैं तो आश्चर्यचकित रह गई। बाद में उन्होंने स्पष्ट किया। उनके पति की पहली पत्नी की लड़की जो प्रायः तेईस वर्षीया है, उस बच्ची की माँ है। १७ वर्ष की उम्र में ही उस युवती का विवाह हो गया था। दो तीन वर्षों बाद उसका विवाह-विच्छेद हो गया। अब वह युवती कहीं नौकरी करती है और किसी विवाहित पुरुष के साथ डेट करती है। बच्चा सम्हालने की योग्यता उसमें नहीं है, इसलिये न्यायालय ने बच्चा अनाथालय को दिला दिया है। वह युवती यह भी नहीं चाहती थी कि उसकी लड़की

नाना और सौतेली नानी के साथ रहे। यह महिला और उनके पति भी उस बच्ची की जिम्मेदारी नहीं लेना चाहते थे, क्योंकि 'टीन एज' आने पर बच्चे यहाँ समस्या ही हैं और तब तक वे और भी वृद्ध हो गये रहेंगे। यह कैसी विडम्बना है कि फिलीपाइन, कोरिया, जापान आदि देशों के अनाथ बच्चों के फास्टर पैरेन्ट्स (धर्म के माता-पिता) बनने वाले अमेरिकन परिवार अपनी संतान के लिये इतने निस्सहाय हैं !

किशोरावस्था में विवाहित दम्पतियों में तलाक की संख्या सर्वाधिक है। केलीफोर्निया स्टेट में विभिन्न राष्ट्रीयता से आये लोगों की संख्या ज्यादा है। इसीलिये वहाँ अन्य प्रान्तों की अपेक्षा तलाक की संख्या भी अधिक है। विभिन्न संस्कृतियों में पले हुए लोग भावुकतावश विवाह तो कर लेते हैं पर उसे अधिक दिन तक नहीं निभा पाते। अभी कुछ समय से देखा जा रहा है कि अधेड़ अवस्था की स्त्रियों में तलाक की संख्या बढ़ रही है। उसका कारण यह दिया जाता है। कुछ ऐसी महिलाएँ हैं जिनके बच्चे बड़े हो जाने के कारण अपनी अलग गृहस्थी बसा लेते हैं अथवा विश्व-विद्यालयीन शिक्षा के लिये दूर चले जाते हैं। ये महिलाएँ सामाजिक कार्यों में लग जाती हैं क्योंकि घर में उन्हें अधिक कार्य नहीं होता और वहाँ एकाकीपन काटना है। कुछ सम्पन्न परिवार की महिलाएँ भी आफिसों में नौकरी करने लगती हैं। वे मानो यौवन वापस बुलाने के लिये अथवा उसे बनाये रखने के लिये साथ के कर्मचारी तरुणों

अथवा समवयस्क पुरुषों से प्रेमलीला प्रारम्भ कर देती हैं। पति को इसका ज्ञान होने पर यह कहानी तलाक के रूप में समाप्त होती है। वृद्धावस्था में वैधव्य और भी एक समस्या है क्योंकि वृद्धों को नाती-पोतों का वैसा सुख नहीं मिलता जैसा कि भारत में होता है। इसीलिये वृद्धावस्था काटना दूभर हो जाता है। एकाकीपन दूर करने के लिये ८०-९० वर्ष की उम्र तक के लोग पुनर्विवाह करते देखे गये हैं।

इस वैभवशाली अमेरिका से सहायता पाने के लिये आज सारे संसार के देश इसकी ओर आशा से मुँह ताक रहे हैं। अमेरिका सब राष्ट्रों की सहायता और नेतृत्व के लिये अग्रसर है और साथ ही अमेरिकन संस्कृति भी विश्व में फैल रही है। दुर्भाग्य की बात है कि भारत भारत भी इससे अछूता नहीं है। हमारे लिये अपेक्षित तो यह है कि हम अमेरिका से केवल आधुनिक वैज्ञानिक एवं तांत्रिक ज्ञान सीखें। जहाँ तक संस्कृति का प्रश्न है, इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारी भारतीय संस्कृति हजारों वर्षों की कसौटी पर निखरी हुई सिद्ध है। अमेरिका में आकर जबकि अन्य राष्ट्रीयता की महिलाएँ यहाँ की वेश-भूषा अपना लेती हैं, हम भारतीय नारियाँ अपनी साड़ी, टीका आदि भारतीय वेशभूषा को गर्व के साथ बनाये रखने के लिये प्रसिद्ध हैं। इसीलिये यहाँ की महिलाओं के हृदय में हमारे लिये विशेष आदर भी है।

हृदय - परिवर्तन

श्री संतोष कुमार झा

प्राचीन समय में किसी गहन वन में एक बहेलिया रहा करता था। व्याधकुल में उसका जन्म हुआ था। जन्म से ही वह क्रूर और हिंसक था। पशु पक्षी कीट पतंग सभी की वह नृशंसतापूर्वक हत्या कर दिया करता था। उसकी इस क्रूरता के कारण उसके सगे-संबंधियों ने भी उसे त्याग दिया था। वह अपनी स्त्री के साथ वन में रहा करता था।

एक दिन वह आखेट की खोज में गहन बन में भटक रहा था कि दिन ढलने लगा पर उसे कोई शिकार नहीं मिल पाया। थोड़ी देर में आकाश काले काले मेघों से घिर गया और वन में अंधकार छा गया। बिजली चमकने लगी। मेघ गर्जन करने लगे और मूसलाधार वर्षा होने लगी। वर्षा इतनी भयंकर थी मानों प्रलयवृष्टि हो। थोड़ी ही देर में सारा वनप्रांत जलप्लावित हो गया। वर्षा की तीव्रता से कितने ही छोटे छोटे पक्षी मरकर वृक्षों से गिर गये। बड़े बड़े हिंस्रपशु वर्षा और शीत से व्याकुल होकर इधर-उधर भटकने लगे। व्याध भी शीत और क्षुधा से पीड़ित हो व्याकुल हो गया।

कुछ देर पश्चात् वर्षा रुक गई। आकाश साफ हो गया। किन्तु तब रात अधिक हो चुकी थी। व्याध को अपने घर का मार्ग नहीं सूझ रहा था। घोर वर्षा के कारण

रास्ते पानी में डूब गये थे। निराश होकर उसने वन में ही किसी वृक्ष की छाया में रात्रि काटने का निश्चय किया। वह एक घने वृक्ष की ओर बढ़ ही रहा था कि उसे जल में किसी वस्तु के गिरने की आवाज सुन पड़ी। उसने हाथों से टटोलकर देखा कि एक अर्धमृत पक्षी फड़फड़ा रहा है। उसने उसे पकड़कर अपने पिंजरे में बन्द कर लिया। हाय री हिंसा! स्वयं इतने कष्ट में होने पर भी उसे उस पक्षी पर दया न आयी; उसके हृदय में करुणा न जागी। हिंसा ने उसके हृदय को पत्थर बना दिया था।

समीप ही एक विशाल घना वृक्ष था। वृक्ष के नीचे की भूमि कुछ ऊँची थी अतः वहाँ पानी नहीं जमा हो पाया था। व्याध ने वहीं विश्राम करने का निश्चय किया। उसने धनुष, बाण, तरकश और पिंजरा आदि वृक्ष के नीचे रख दिये और स्वयं कुछ पत्ते बिछाकर एक शिला खण्ड पर सिर रखकर सोने का उपक्रम करने लगा। किन्तु शीत और क्षुधा से पीड़ित होने के कारण उसे नींद न आई।

उसी वृक्ष की एक डाल पर कबूतर का एक घोंसला था। उसमें बैठा कबूतर बड़े ही करुण स्वर में विलाप कर रहा था। उसकी पत्नी आज प्रातः काल से चारा चुगने गई थी और वह अभीतक लौट कर नहीं आई थी। अनिष्ट की आशंका से उसका हृदय फटा जा रहा था। आज की प्रलयंकारी वर्षा में उस पर कोई विपत्ति तो नहीं आ गई? वह कुशल से तो होगी? इन्हीं चिंताओं में उसे अपने विगत जीवन के मधुर क्षणों का स्मरण होने लगा और

विलाप करता हुआ वह कहने लगा, 'अहो ! मेरी प्रिया मुझे कितना चाहती थी। मुझे भोजन कराये बिना वह स्वयं नहीं खाती थी। मेरी प्रसन्नता में वह कितनी प्रसन्न होती थी। मुझे उदास देखकर वह दुख के सागर में डूब जाती थी।'

बहेलिये के पिंजरे में बन्द वह चिड़िया इसी कबूतर की जीवन-सहचरी थी। अपने पति के मुँह से अपने प्रति इतने स्नेह युक्त वचन सुनकर कबूतरी का हृदय गद्गद् हो गया। तभी उसकी दृष्टि पास ही लेटे बहेलिये पर पड़ी। उसका हृदय करुणा से भर गया और वह सोचने लगी, 'अहो ! इस व्याध की पत्नी भी मेरे पति की भाँति चिंतातुर और दुखी होगी। उसका मन भी अपने पति के अनिष्ट की आशंका से व्याकुल हो रहा होगा। वह कितनी दुखी होगी।' तभी उसे स्मरण हुआ कि वह व्याध तो उसी वृक्ष के नीचे सोया है जहाँकि उसका घोंसला है। अतः व्याध उसका अतिथि है। उसे अवश्य ही अपने अतिथि का सत्कार करना चाहिये; क्योंकि अतिथि-सत्कार गृहस्थ का प्रथम धर्म है।

किंतु वह बेचारी तो पिंजरे में बन्द है। वह अपने अतिथि का स्वागत कैसे करे ? इधर घर आये अतिथि का स्वागत न करना भी अधर्म है। उसने प्रेमपूर्वक करुण स्वर में अपने पति को पुकारा। कबूतर को अपनी प्राण प्रिया की आवाज सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ। 'प्रिये, तुम कहाँ हो' कहता हुआ वह तुरंत पेड़ के नीचे उतर

आया। नीचे अपनी पत्नी को पिंजरे में बन्द देख वह व्याकुल होकर रोने लगा। किन्तु कबूतरी ने उसे सान्त्वना दी और कहा, 'प्राणनाथ ! मुझे बंदी बनानेवाला यह व्याध आज अतिथि के रूप में हमारे घर आया है। अतः हमारा धर्म है कि हम अतिथिदेव की सेवा करें। गृहस्थ का यह सबसे बड़ा कर्त्तव्य है।' अपनी पत्नी की धर्मपरायणता और कर्त्तव्य निष्ठा देखकर कबूतर प्रसन्न हुआ। पत्नी को आश्वस्त कर वह शीघ्र ही व्याध की सेवा के लिए सन्नद्ध हो गया।

व्याध शीत और क्षुधा से पीड़ित वहाँ पड़ा पड़ा आँसू बहा रहा था। कबूतर ने व्याध से मनुष्यों की बोली में कहा, "व्याधराज ! आज आप हमारे अतिथि हैं। कहिये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?"

उस गहन वन में मनुष्य की बोली सुनकर व्याध को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने उठकर चारों ओर दृष्टि दौड़ाई, किन्तु उसे वहाँ कोई मनुष्य न दिखा। उसके सामने ही एक कबूतर बैठा था। उसने विनय पूर्वक व्याध से पुनः वही निवेदन किया।

व्याध ने कहा, "भाई, मुझे बड़ी ठंड लग रही है। किसी तरह शीत से मेरी रक्षा करो।" कबूतर शीघ्र ही दूर वन से सूखे पत्ते ले आया और व्याध के पास रख दिया। फिर तुरंत ही वह ग्राम के लुहार की भट्ठी से आग ले आया। व्याध ने उससे आग जलाई और अपने अंगों को सेंककर गरम करने लगा। कुछ स्वस्थ होने पर व्याध

ने कहा, "पक्षीराज ! मुझे बड़ी भूख लगी है। मुझे कुछ भोजन दो।"

व्याध की बात सुनकर कबूतर को बड़ा दुख हुआ। वह मन ही मन सोचने लगा, "मैं तो पक्षी हूँ और हम पक्षी कुछ संचय करते नहीं। मैं व्याध को भोजन कहाँ से दूँ? यदि मैं उसे भोजन नहीं दे सका तो अतिथि धर्म से च्युत हो जाऊँगा, कर्त्तव्य-भ्रष्ट हो जाऊँगा।" कुछ देर गंभीर मुद्रा में रहने के पश्चात् उसने व्याध से कहा, "व्याधराज, आप अग्नि को और प्रज्वलित कीजिए, मैं आपके भोजन की व्यवस्था करूँगा।" व्याध ने अग्नि को और प्रज्वलित किया। प्रज्वलित अग्नि को देखकर कबूतर ने अग्निदेव को प्रणाम किया। उसने तीन बार अग्नि की परिक्रमा की और व्याध से कहा, "हे अतिथिदेव! आपकी क्षुधा शांत करने के लिए मेरे पास इस शरीर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, अतः आप इसी से अपनी क्षुधा शांत करें।"

इतना कहकर उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही वह कबूतर अग्नि में कूद पड़ा। यह दृश्य देखकर और कपोत की बात सुनकर व्याध स्तब्ध रह गया। उसका क्रूर हृदय विचलित हो उठा। वह सोचने लगा, 'अहो! एक पक्षी होकर भी उसने कितना महान् त्याग किया है! मेरी क्षुधा शांत करने के लिये उसने अपने आपका बलिदान कर दिया! और एक मैं हूँ—अधम और नीच; अपनी क्षुधा शांत करने के लिये वर्षों से अनेक प्राणियों की हत्या

करता आ रहा हूँ ! मैं कितना पापी हूँ ! इस क्षणभंगुर जीवन की रक्षा के लिये मैं यह कैसा घोर दुष्कर्म कर रहा हूँ !'

यह सोचकर उसका हृदय व्याकुल हो उठा। तभी उसकी दृष्टि अपने उस पिंजरे पर पड़ी, जिसमें उसने कबूतरी को बंद कर रखा था। आत्मग्लानि से उसका पशुत्व मर गया और मानवता जाग उठी। उसने तुरंत ही उस पक्षी को पिंजरे से मुक्त कर दिया। मुक्त होते ही कबूतरी ने भी अग्नि की परिक्रमा की और व्याध से कहा, "व्याधराज, आपकी क्षुधा शांत करने के लिये जिस महाभाग कपोत ने अपना बलिदान कर दिया वे मेरे ही पतिदेव थे। आप हमारे घर पधारे हैं, अतः आप मेरे भी अतिथि हैं। अतः मैं भी अपने पति की भाँति अतिथिसेवा के महान् धर्म का पालन करना चाहती हूँ। आप मेरे मांस से भी अपनी क्षुधा शांत करने की कृपा करें।" इतना कह-कर वह कबूतरी भी उस प्रज्वलित अग्नि में कूद गयी।

यह हृदयविदारक दृश्य देखकर व्याध का क्रूर हृदय विदीर्ण हो गया। अतिथि के रूप में आये शत्रु के लिये भी कबूतरी द्वारा आत्म-बलिदान करना देखकर व्याध का हृदय दुख और पश्चात्ताप की अग्नि से जलने लगा। अपने क्रूर कर्मों के कारण उसे अपने प्रति भयंकर घृणा होने लगी। उसने अपने सभी अस्त्र-शस्त्र वहीं फेंक दिये और अपने अपराधों का प्रायश्चित करने के लिए वह गहन वन की ओर बढ़ चला। उसने अन्न-जल त्याग दिया

और व्याकुल अंतःकरण से अपने अपराधों के मोचन के लिये वह प्रभु से प्रार्थना करने लगा।

एक दिन भयंकर आँधी आई। आँधी के वेग से वन के सूखे वृक्षों का आपस में घर्षण हुआ और उनमें आग लग गई। देखते-देखते आग भयानक बड़वानल में परिवर्तित हो गई। वन के जीवजंतु प्राण-रक्षार्थ इधर-उधर भागने लगे किंतु व्याध को अपने शरीर की सुधि न थी। उसका मन प्रभु के चरणों में लीन हो चुका था। आग बढ़ती गई और उसकी लपलपाती शत-शत जिह्वाओं ने व्याध के शरीर को अपने में समेटकर भस्म कर दिया। शरीर तो मर गया किंतु व्याध अमर हो गया। उसे भी वही सद्गति मिली जो कपोत दम्पति को परार्थ आत्म-बलिदान करने के कारण प्राप्त हुई थी।

प्राचीन महाभारत की यह कथा हमें नवीन संदेश दे रही है। मनुष्य का स्वभाव है भूलें करना, अपराध कर लेना, किंतु जब कभी भी हमारी चेतना जागे और हमें अपनी भूल का ज्ञान हो जाये, तभी से हमें अपनी गलतियों पर पश्चात्ताप करना चाहिए और व्याकुल होकर ईश्वर से प्रार्थना करते हुए अपने जीवन के कलुष को धोने का प्रयत्न करना चाहिए। पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त के सहारे एक पापी भी अपने को सद्गति का अधिकारी बना लेता है।

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक

डा० त्रेतानाथ तिवारी

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने जिस काल में जन्म ग्रहण किया वह हमारे देश की दासता का निबिड़ अंधकारमय युग था। उनके जन्म के एक वर्ष पश्चात् ही १८५७ का स्वातंत्र्य युद्ध हुआ। उस समय ब्रिटिश शासन ने देश की जागृति को पूर्णतया दमन कर शान्त कर देना चाहा। जनता भयभीत हो गई।

कट्टर पंथियों का बोल बाला था। आपसी झगड़ों में देशवासी विदेशियों की सहायता लेकर अपना बैर भँजाते थे। विदेशी इसका पूरा पूरा लाभ उठाते थे। विदेशी शासन अपने पूर्ण बलसे हम पर आरूढ़ था। छोटी छोटी बातों में राजद्रोह का अपराध लग जाने का भय बना रहता था। स्मशान की शांति ऊपर ऊपर विराजमान थी। अन्याय के प्रतिकार की शक्ति समूल नष्ट हो गई थी। ऐसी परिस्थिति में तिलक ने निर्भीकतापूर्वक जनजागरण का बीड़ा उठाया और सबल शासन से शत्रुता मोल ली। उनके समुज्ज्वल नैतिक चरित्र पर अँगरेज सरकार ने कालिमा लगाना चाहा और यातनाओं के द्वारा उनके मनोबल को भंग करने का सतत उद्योग किया। स्वराज्य शब्द का उच्चारण मात्र भी उन दिनों राजद्रोह गिना जाता था। तमोयुग के अंधकार में स्वायत्तशासन रूपी प्रासाद की आधार शिला स्थापित करनेवाले नेता में जिन जिन

गुणों की आवश्यकता है, वे सब उनमें परिपूर्ण मात्रामें थे। विलक्षण धैर्य, तीव्र दूरदर्शिता, परकीयों से लोहा लेने की तथा आत्मीयों के वैर भाव एवं उनके किये हुए अपमान एवं उपेक्षा को सहन करने की उनमें अद्वितीय शक्ति थी। निर्मल चरित्र, दीनों के प्रति वात्सल्य और करुणा तथा परमात्मा पर दृढ़ निष्ठा उनमें कूट कूट कर भरी थी। देश-व्यापी भय और अवसाद के युग में स्वातंत्र्यविचारधारा के नवीन पल्लव का रोपण कर अनंत कष्टों द्वारा उसे सींच-कर परिवर्धित करना उनके ही द्वारा संभव था। 'स्वराज्य मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है तथा मैं उसे प्राप्त करके ही रहूँगा' इस घोष द्वारा उन्होंने देश को निर्भीकता का पाठ पढ़ाया और भावी नेता महात्मा गाँधी के लिये आन्दोलन का क्षेत्र तैयार किया।

उनकी पूजनीया माता ने पुत्र-प्राप्तिके निमित्त अठारह मास पर्यन्त कठिन तपस्या द्वारा सूर्यदेव की आराधना की थी। इसी के फलस्वरूप प्रातःकालीन देवपूजा के घंटा-रव के साथ ही उनका शुभ जन्म हुआ। उनका नाम वास्तव में केशव रखा गया था किंतु उनकी माता स्नेहपूर्वक उन्हें जिस 'बाल' नाम से पुकारती थीं, वही उनका चिर संगी हुआ और केशव नाम लुप्तप्राय हो गया। माता ने सत्य ही कहा था कि सूर्य भगवान् का प्रसाद रूप यह मेरा पुत्र सूर्य जैसा ही प्रखर प्रतापी होगा।

बाल्यावस्था से ही उनकी स्मरणशक्ति तीक्ष्ण थी। श्लोक वे शीघ्र ही कंठस्थ कर लेते थे। इस कार्य में उत्साह

बढ़ाने के हेतु उन्हें प्रतिश्लोक एक पाई पुरस्कार प्राप्त होता था। अल्पकाल में ही उनकी निधि दो रुपये (३८४ पाई) तक पहुँच गई।

विद्यार्थी अवस्था से ही वे निर्भीक और दृढ़ निश्चयी थे। भोजन काल के अतिरिक्त वे घर में या बाहर कुछ न खाते थे। एक शिक्षक ने एक बार उन पर पाठशाला में मूँगफली खाने का आरोप लगाया। उन्होंने अपनी निर्दोषिता बताई और शिक्षक के न मानने पर उन्होंने वह पाठशाला ही त्याग दी।

वे गणित में प्रारम्भ से ही विशेष योग्य थे। जब शिक्षक कोई प्रश्न लिखाते तो वे कहते कि इसे पट्टी पर लिखने की क्या आवश्यकता है, और वे तत्काल ही उसे मुखाग्र हल-कर उत्तर सुना देते। वे नोट बुक न ले जाते। उसे अनावश्यक बताकर लिखने योग्य बातें वे मुखाग्र ही सुना देते। इस प्रकार वे गुरुजनों से खटपट मोल लेते रहते थे। फलस्वरूप वे कक्षा में हठीले प्रसिद्ध हो गये। एक बार शुद्ध लेखन में सन्त शब्द तीन बार आया तो उन्होंने उसे प्रत्येक बार अलग रीति से लिखा—संत, सन्त, सन्‌त। अध्यापक बेचारे ने आपत्ति की। मामला बढ़कर प्रधान अध्यापक तक गया और आप विजयी हुए।

आगे चलकर जस्टिस रानाडे ने आपके विषय में कहा था, 'किसी भी कार्य में हाथ लगाने पर उसे समाप्त किये पीछे न हटना और इसके लिए सब कष्ट सहने को प्रस्तुत रहना तिलक का एक विशेष अनुकरणीय गुण है।"

विवाह के समय आपने अन्य वस्तुओं को निरर्थक बताकर उस मूल्य की पुस्तकें लेने का आग्रह किया।

आपके श्वसुर विशेष धनाढ्य न होते हुए भी आतिथ्य एवं स्वागत-सत्कार में प्रसिद्ध थे। आप बड़े धर्मभीरु एवं निष्ठापरायण थे। भारतीय संस्कृति और तत्कालीन सामाजिक स्थिति की द्योतक, आपके जीवन की यह घटना उल्लेख योग्य है। उन दिनों कोंकण में चोर-डाकुओं के उपद्रव से भयभीत जनता अपने आभूषण अन्नराशि में छिपाकर रखती थी। एक दिन जब अंजलि भरकर आप भिक्षा देने लगे तो उसमें एक स्वर्णाभूषण भी चला गया। भिक्षार्थी के नाम निकला हुआ मानकर आपने उसे वापस लेना अनुचित माना।

तीव्र मेधावान् होने के कारण आप विशेष अध्ययन न करते थे। थोड़ी सी चुनी हुई पुस्तकें पढ़ते एवं शीघ्र ही अभ्यास पूर्ण कर लेते थे। आपकी तल्लीनता प्रशंसनीय थी। अध्ययन काल में नगाड़े भी बजें तो आपका ध्यान विचलित न होता था।

गणित और संस्कृत आपके प्रिय विषय थे। एक बार अपने प्रोफेसर श्री जिन्सीवाले की आज्ञा से आपने मातृ-विलाप नामक छोटी सी काव्य-रचना की जिसकी प्रोफेसर साहब ने बड़ी प्रशंसा की। पर आपकी यह रुचि स्थायी रूप धारण न कर सकी। तथापि गणित और वेदाध्ययन की आपकी रुचि बढ़ती गई और ज्योतिष शास्त्रमें अधिकार प्राप्तकर आपने नवीन शोध किये जिनके परिणाम स्वरूप

"Orion or the Antiquity of the Vedas" और 'The Arctic Home in the Vedas" इन दो जगन्मान्य ग्रंथों की रचना हुई। इनकी मैक्समूलर प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् शोधकर्ताओं ने प्रशंसा की है। मैक्समूलर ने आपकी रचना के समादर स्वरूप आपके अध्ययन के लिए ऋग्वेद की एक प्रति भेजी। इसका आपके जेल-सुपरिंटेन्डेन्ट पर विशेष प्रभाव पड़ा और उसने अपने को धन्य मानकर उस कठिन ब्रिटिश शासनकाल में भी कारावास में आपको यत्किंचित् सुविधाएँ देना प्रारम्भ किया।

कक्षा में आप नोट्स नहीं लिखते थे किंतु चर्चा छिड़ जाने पर अध्ययन करके आपने एलिज़ाबेथ के शासनकाल पर सुन्दर नोट्स एवं व्याकरण-नियमों पर स्वतन्त्र सुन्दर निबन्ध तैयार किया जिन्हें अनेकों विद्यार्थियों ने नकल करके रखे और जो बहुमूल्य समझे जाने लगे।

"मानववंश का पालना" के लेखक प्रो० वारेन ने 'ओपन कोर्ट' नामक मासिक में लिखा था, "आर्यों के वसति-स्थान' पर आपके लिखे ग्रंथ ने यूरोप और अमेरिका के समस्त विद्वानों को विचारणा में लगा दिया है। लेखक संस्कृत के बहुत बड़े विद्वान् हैं। आपको पाश्चात्य शास्त्रों का पर्याप्त ज्ञान है। अंग्रेजी इतनी शुद्ध और प्रभावशाली लिखते हैं कि बड़े-बड़े अंग्रेजी लेखक भी दाँतोंतले अँगुली दबाते हैं। आपकी विवेचन-पद्धति सर्वत्र स्पष्ट और शास्त्रीय पद्धति के अनुकूल रहती है। विषय की

व्यापकता की तुलना में ग्रंथों के नाम ही संकुचित जान पड़ते हैं। ग्रन्थ मेरी कृति से भी गंभीर हैं।"

कालेज शिक्षा के प्रारम्भ तक आपका शरीर अत्यन्त दुर्बल था—सिर छोटा, पेट बड़ा, दुबले हाथ-पैर और छोटा कद; मानों कोई रोगी हों। किन्तु लगातार दो-दो घंटे डंड, बैठक आदि अखाड़े के व्यायाम तथा मल्ल युद्ध, नौका चालन आदि द्वारा एक ही वर्ष में आपने अद्वितीय उन्नति कर ली एवं ऐसा सुदृढ़ और बलिष्ठ शरीर बना लिया कि लोग आपको पहचान भी न पाते थे। पर्याप्त मात्रा में आप दूध, घी आदि पौष्टिक पदार्थ सेवन करते, यहाँ तक कि आपकी गेहूं की रोटियों की राशि भस्म कर देने की प्रक्रिया से रसोइये चिढ़ने लग गये। भविष्य के जीवन-संग्राम में कारावास में आपको जो यातनाएँ सहनी पड़ीं उन सब में आपकी इस शरीर सम्पत्ति ने ही उन्हें विजयी बनाया; अन्यथा ३५-४० पौंड वजन खोकर आप शायद ही जेल से जीवितावस्था में बाहर आ पाते। देर तक आप पानी में डुबकी लगा सकते थे। बनारस में आपने तैरकर गंगा पार की थी। पानी में उत्तानावस्था में घंटे पर घंटे लेटे हुए आप दूध की बनी पूड़ियाँ खाते रहते। घूमना आदि हल्के व्यायामों एवं पाश्चात्य प्रणाली के शौकीनी खेलों से आपको अरुचि थी।

अपना दैनिक कार्यक्रम पूर्ण कर आप स्वच्छन्द घूमा करते और मित्रों के साथ उपद्रव करके उनकी भूल सुधारते। सहपाठियों में कमजोरी और नज़ाकत आप सहन

न कर सकते थे। कोई यदि सुकुमारता के लक्षण दिखाता तो उसे सदा तंग करते। पेटेन्ट दवाओं की शीशियाँ फेंक देते और उनके सेवन करनेवालों को व्यायामादि एवं पौष्टिक भोजन के लिये प्रेरणा देते। एक सहपाठी गर्मी की रात्रि में पुष्पशय्या बनाकर सोता था। आप उसकी दिल्लगी उड़ाकर शय्या नष्ट-भ्रष्ट कर देते। इन उद्योगों में आप रात को अकेले घूमना, खिड़कियाँ खोलकर पीछे से, अथवा दरवाजे के काँच तोड़कर भीतर प्रविष्ट हो जाना आदि सभी उपाय स्वीकार कर लेते थे। तंग आनेवाले विद्यार्थियों ने आपको Devil (शैतान) की उपाधि प्रदान की थी। खरी खोटी सुनाने के कारण आपको केनिलवर्थ के Blunt नामक पात्र की भी संज्ञा प्राप्त हुई थी।

तिलक की गृहस्थी में उदारता के साथ अत्यंत सादगी रहती थी। समस्त गृहस्थी का सामान शायद ही २-४ गाड़ी रहा हो। उनके अपने कमरे में केवल एक टेबल, दो कुर्सियाँ, एक आराम कुर्सी, एक पुस्तकों की आलमारी और एक शेल्फ रहता था। लेख आदि आप आराम कुरसी पर बैठकर लिखाते और अपने हाथों से सुपारी कतर कतर कर खाते रहते थे। सादगी आपके परिवार एवं पोशाक में भी दृष्टिगोचर होती थी। आपके हाथमें रहने वाली छड़ी शायद ही कभी चार छः आने से अधिक मूल्य की रही हो। घर में तो आप १५-२० घंटे खुले बदन ही रहना पसंद करते थे। किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति के आने पर भी आप

निःसंकोच केवल धोती पहने ही मिल लेते। भोजन में जो कुछ थाली में आजाये चुपचाप बिना स्वाद की चर्चा के खा लेते थे। कई बार तो शाक-दाल अलोना होने पर भी आप बिना बतायें पूरा पूरा भोजन कर लेते। इसी प्रकार स्वादिष्ट पदार्थ भी बिना प्रशंसा किये तथा अपनी नियमित मात्रा में ही खाते। बच्चों के प्रति आपको केवल कर्तव्य-पालन की दृष्टि रहती थी। आप उनका लाड़-प्यार न करते किंतु रुग्ण होने पर औषधि आदि का प्रबन्ध तत्काल करते थे। आवश्यक होने पर उनके लिये उत्तम अध्यापक भी नियुक्त कर देते। धार्मिक आचार का आप बराबर पालन करते थे। आपके अंतरंग सम्पर्क में आने वाले कम ही थे किंतु आप सबसे एक सा व्यवहार करते थे। साधु, भिक्षुक, आर्त, विद्यार्थी, मित्र, सम्बन्धी, राज-नैतिक, सभी प्रकर के व्यक्तियों से आपका सुन्दर व्यवहार रहता था। सभी समझते कि आप उनके अपने ही हैं।

उस काल में और भी कुछ लोगों ने देश की मुक्ति के लिये यत्र-तत्र प्रयत्न आरम्भ किये थे। इनमें से एक वासु-देव बलवंत थे जिन्होंने गोली चालन की शिक्षा देने के लिये एक कक्षा प्रारम्भ कर रखी थी। इसमें तिलक भी कुछ दिनों शिक्षा लेने जाया करते थे। नियमित रूप से खजाने, डाकघर आदि लूटकर उस धन से देश की स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिये एक फौज संगठित करना इनका ध्येय था। किंतु जब वास्तव में लूटपाट आरम्भ हुई तो इनके साथी उच्च आदर्श को भूलकर व्यक्तिगत रूप से धन संचय करने

लगे। वासुदेव बलवंत को गिरफ्तार कर आमरण कारा-वास का दण्ड दिया गया और अदन भेज दिया गया। जाते समय इन्होंने कहा, 'देश बंधुओ, मेरे ध्येय में मैं असफल रहा, इसके लिये आप मुझे क्षमा करें। मृत्यु के अनंतर भी परमात्मा से झगड़ कर मैं देश को इन अंग्रेजों से मुक्ति दिलाऊँगा।"

तिलक ने अनुभव किया कि सच्ची राष्ट्रीय शिक्षा के विना नवयुवकों में स्वातंत्र्य की चेतना जागृत न हो सकेगी। इस दृष्टि से आपने कुछ निःस्वार्थ राष्ट्रसेवियों की सहा-यता से न्यू इंग्लिश स्कूल की स्थापना की। प्रारम्भ में स्वयं-सेवक शिक्षकोंने केवल निर्वाह योग्य वेतन पर आजीवन कार्य करने का ध्येय बनाया। प्रारम्भ में तिलक एवं चिप-लूणकर कुछ भी वेतन न लेते थे; शेष शिक्षक ४०) मासिक लेते थे। इस संस्था में आपने सरकार से कोई सहायता न ली। उस कठिन काल में यह कार्य अत्यंत महत्त्वपूर्ण था। संस्था की प्रशंसा Education commission के अध्यक्ष डा० हंटर एवं लार्ड रे तथा Times आदि पत्रों ने भी की। इसके द्वारा राष्ट्रीय विचारधारी नवयुवकों का निर्माण होने लगा। धीरे धीरे अनेकों राजा-महाराजाओं तथा अन्य उदार व्यक्तियों ने सहायता प्रदान की।

प्रबंध के लिये डेक्कन एजुकेशन सोसाइटी की स्थापना हुई। इस सोसाइटी को Times ने सरकार के लिये आपत्ति-जनक कहा था। अराष्ट्रीय जन इसे देशभक्तों की सोसाइटी कहकर उपहास करते थे। उच्चतर शिक्षा की दृष्टि से

फरग्यूसन कालेज की स्थापना की गई। इसमें चरित्रवान् एवं राष्ट्रीय विचारधारा वाले विद्यार्थी प्रवेशप्राप्त करते थे एवं यूरोपियन प्रोफेसरों का प्रवेश न होने दिया जाता था। संस्थाएँ बहुत उत्तम रूपसे प्रगति करने लगीं। इनके विद्यार्थी विश्वविद्यालय में अब अनेक पारितोषिक प्राप्त करने लगे। डेक्कन कालेज को भी इस सोसाइटी के प्रबंध में रखने की चर्चा प्रारम्भ हुई किंतु सरकार प्रबंधकों में दो यूरोपियन भी रख देना चाहती थी। इस कारण राष्ट्रीय विचारधारा में बाधा आने एवं अनुचित सरकारी हस्तक्षेप के भय से यह स्वीकार न किया गया।

इतनी प्रगति होते हुए भी आर्थिक स्थिति के सुधारके साथ साथ सहयोगियों में आदर्श की उच्चता का ध्येय शिथिल होने लगा। वेतन की दृष्टि से मतभेद प्रारम्भ हो गया। स्वार्थत्याग, कर्तव्यनिष्ठा और अपरिग्रह के सिद्धांतों का लोप होने लगा। इस पतन से तिलक को हार्दिक दुःख हुआ। उन्होंने निर्णय किया कि अब मैं यहाँ किसी भाँति नहीं रह सकता और ऐसा निश्चय कर अश्रुपूरित नेत्रों और विह्वल हृदय से आपने त्यागपत्र दे दिया।

तत्पश्चात् संस्थाओं पर अनेक टीका-टिप्पणियाँ भी हुईं, किन्तु भविष्य में तिलक सदा इनके विषय में मूक ही रहे।
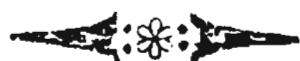
प्रश्न—गीता में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को ज्ञान के साथ विज्ञान का भी उपदेश दिया है। जैसे—'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानम्', 'ज्ञानं विज्ञानसहितम्' आदि उपदेश भगवान् के मुख से निकले हैं। इस 'विज्ञान' का क्या अर्थ है ? क्या उसे हम आधुनिक 'साइंस' के अर्थ में ले सकते हैं ?

—ओमप्रकाश निगम, बम्बई

उत्तर—नहीं, यहाँ 'विज्ञान' शब्द का प्रयोग 'साइंस' के अर्थ में नहीं हुआ है। विज्ञान का अर्थ है विकर्ष ज्ञान या 'स्वानुभव संयुक्त ज्ञान', जैसा कि शंकराचार्य अपने गीता-भाष्य में इस शब्द की टीका करते हुए लिखते हैं। ज्ञान वह है जो हमने ग्रन्थों और गुरुओं से प्राप्त किया है। विज्ञान वह है जब हम ग्रंथों और गुरुओं से पाये इस ज्ञान को अपने अनुभव में उतार लेते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के कथन का तात्पर्य यह है कि वे अर्जुन को असिद्ध ज्ञान नहीं देना चाहते थे। जो ज्ञान उनके स्वयं के अनुभव में उतर चुका था, जिसको उन्होंने अपनी अनुभूति में उतारकर सिद्ध कर लिया था, उसी को वे विज्ञान कहते हैं और उसी का दान वे अर्जुन को करते हैं।

प्रश्न—मैंने कहीं पर पढ़ा है कि स्वामी विवेकानन्द इस संसार की उपमा कुत्ते की टेढ़ी पूँछ से देते थे और कहते थे कि यह कभी सुधर नहीं सकता। तब फिर, इतने जो जनहितकर और सुधारक कार्य आप लोगों के द्वारा किये जाते हैं वे क्या निरर्थक नहीं हैं ?

उत्तर—आपने ठीक ही पढ़ा है। स्वामी विवेकानन्द यह अवश्य कहते थे कि संसार कुत्ते की टेढ़ी पूँछ के समान है और उसे सीधा नहीं किया जा सकता। जब तक पूँछ को दोनों हाथों से पकड़कर रखे रहो तब तक वह सीधी हुई-सी दीखती है, पर उसे छोड़ते ही पुनः वह टेढ़ी की टेढ़ी हो जाती है। उसी प्रकार जब इस धराधाम में महान् पुरुषों का आगमन होता है, तब उस समय यह संसार कुछ सीधा हुआ-सा दीखता है, पर उनके चले जाते ही पुनः वह वैसा ही हो जाता है। यह तो बिलकुल ठीक है। पर स्वामी विवेकानन्द यह भी कहते हैं कि इस अवश्यम्भावी सत्य के कारण हमें हताश नहीं होना है। हमें यह जनहितकर कार्य; दूसरों की निःस्वार्थ सेवा तथा देश और समाज को ऊपर उठाने के कार्य किये जाना है। क्यों ? इसलिए कि यद्यपि पूँछ को सीधा करने के प्रयास में पूँछ सीधी नहीं होती, तथापि हम सीधे हो जाते हैं। हमारे इन सब कार्यों से भले संसार में कोई सुधार न हो, पर हम स्वयं सुधर जाते हैं। यह स्वामी विवेकानन्द की ही वाणी है। अतः ऐसे कार्य निरर्थक नहीं बल्कि आत्मविकास के लिए आवश्यक हैं। —स्वरूपरानी गोयल, जबलपुर

आश्रम समाचार

(१ मार्च से ३१ मई तक)

७, १४ और २१ मार्च को स्वामी आत्मानन्द ने कठोपनिषद् पर अपना सातवाँ, आठवाँ और नौवाँ प्रवचन किया। कठोपनिषद् अभी पूरा नहीं हुआ है। वे पुनः अपना रविवासरीय प्रवचन कठोपनिषद् पर ११ जुलाई से प्रारम्भ करेंगे।

१ मार्च को भिलाई इस्पात नगर में भगवान् श्रीरामकृष्ण का जन्म-महोत्सव आयोजित किया गया जिसमें स्वामी आत्मानन्द ने प्रमुख अतिथि के रूप से भगवान् श्रीरामकृष्ण देव के जीवन और सन्देश की तात्त्विक विवेचना की। साथ ही, आश्रम के व्यवस्थापक श्री सन्तोषकुमार झा तथा शासकीय विज्ञान महाविद्यालय के व्याख्याता श्री नरेन्द्रदेव वर्मा ने भी क्रमशः श्री माँ सारदा देवी और स्वामी विवेकानन्द के जीवन पर सुन्दर प्रकाश डाला। उक्त महोत्सव के प्रमुख आयोजक श्री घनश्याम श्रीवास्तव ने स्वरचित कविता-पाठ करते हुए सत्य-तत्त्व की विवेचना की।

८ मार्च को आश्रम-प्रांगण में भगवान श्रीरामकृष्ण का १३० वाँ जन्म-महोत्सव मनाया गया। इस उपलक्ष में आश्रम के सत्संग-भवन में एक सार्वजनिक सभा का आयोजन किया गया जिसकी अध्यक्षता रायपुर-संभाग के शिक्षा-अधीक्षक श्री जामदार ने की। प्राध्यापिका कु० तरला पाण्डे, प्राध्यापक अमिताभ लहरी तथा स्वामी आत्मानन्द ने भगवान् श्रीरामकृष्ण देव के लीलामय जीवन के विभिन्न पक्षों पर अपने विचार व्यक्त किये।

२२ और २३ मार्च को दुर्ग जिले के अन्तर्गत औंधी ग्राम में दाऊ तुंगनराम जी चन्द्राकार की प्रेरणा और उनके उत्साह से एक विशाल धार्मिक समारोह का आयोजन किया गया था। दोनों दिन स्वामी आत्मानन्द प्रमुख अतिथि के रूप से उपस्थित थे। २२ मार्च को डा० खूबचन्द बघेल, संसद सदस्य, रायपुर की अध्यक्षता में स्वामी आत्मानन्द ने 'भागवत का मर्म' विषय पर सारगर्भित व्याख्यान दिया। स्वामीजी ने भागवत के सम्बन्ध में फैली गलत धारणाओं का निराकरण करते हुए उसे उच्च कोटि का भक्ति प्रतिपादक ग्रन्थ बताया। उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण से सम्बन्धित कतिपय विवादास्पद घटनाओं को एक नये दृष्टिकोण से देखने की प्रणाली निर्देशित करते हुए भागवत की महत्ता का विवेचन किया। इस अवसर पर श्रीसन्तोष-कुमार झा और प्राध्यापक नरेन्द्र देव वर्मा ने क्रमशः 'महाभारत' और 'श्रीरामकृष्ण का आधुनिक मानव को सन्देश' इन विषयों पर विचारोत्तेजित भाषण दिये।

२३ मार्च के समारोह की अध्यक्षता दुर्ग के प्रतिष्ठित वकील श्री व्ही० वाय० तामस्कर ने की। इस दिन दुर्ग जिले के जिलाधीश श्री भावे भी विशेष रूप से उपस्थित थे। स्वामीजी ने 'गीता और विश्वशान्ति' पर भाषण देते हुए आज के सन्दर्भ में गीता की उपा-देयता पर विचार प्रस्तुत किया और यह प्रतिपादित किया कि गीता का ज्ञान और कर्मयोग का भाव मानव-मन की गुत्थियों को सुलझा सकता है और इस प्रकार अशान्ति के कारणों का उपशमन कर सकता है। इस अवसर पर समवेत श्रोताओं ने विवेकानन्द आश्रम के हेतु २०,३००) (बीस हजार तीन सौ) रूपये के दान की घोषणा की।

२८ मार्च को आश्रम के सत्संग भवन में श्री प्रेमचन्द जैस एवं पार्टी का तथा ३० मार्च को श्री रामरक्षित जी रामायणी का रामायण पर मधुर प्रवचन हुआ। ४ अप्रैल को स्वामीजी की अध्यक्षता में डा० श्यामसुन्दरलाल दीक्षित ने 'गीता' पर प्रवचन किया। १० और ११ अप्रैल को हिर्री खदान में श्रीरामकृष्ण-जन्मोत्सव सोल्लास मनाया गया। स्वामी आत्मानन्द ने प्रमुख अतिथि के रूप से दोनों दिनों के उत्सव में भाग लिया। पहले दिन के समारोह की अध्यक्षता भिलाई इस्पात कारखाने के स्टोर्स और फर्नेजेस के कंट्रोलर श्री आर० वेंकटरामन ने की और दूसरे दिन बिलासपुर रेलवे संभाग के अधीक्षक श्री चटर्जी के सभापतित्व में समारोह मनाया गया।

१७ अप्रैल को मध्यप्रदेश शासन के तत्कालीन स्वास्थ्यमंत्री डा० रामाचरण राय की अध्यक्षता में एक रोचक परिसंवाद का आयोजन किया गया, जिसका विषय था—'विभिन्न चिकित्सा-पद्धतियों में अध्यात्म का स्थान'। इस अवसर पर शासकीय आयुर्वेदिक महाविद्यालय के प्राचार्य डा० बनारसीदास गुप्त, डा० डी० बी० राजिमवाले, श्री यादव, डा० ए० एस० गुरु गोस्वामी और डा० रविकिशोर नशीने ने क्रमशः आयुर्वेदिक, एलोपैथिक, संगीत, प्राकृतिक और होमियोपैथिक चिकित्सा-प्रणाली का प्रतिनिधित्व किया।

१८ अप्रैल से २५ अप्रैल तक स्वामीजी के कार्यक्रम चिरमिरी, डोमन हिल्स और मनेन्द्रगढ़ में होते रहे, जहाँ उन्होंने कतिपय महत्त्वपूर्ण विषयों—यथा, शिक्षा की समस्या, ईश्वर की खोज, भक्ति का पथ, शान्ति पाने का उपाय, राष्ट्र और धर्म के प्रति कर्तव्य,

कल-कारखानों के युग में कर्मयोग का रूप—पर अपने सारगर्भित विचार प्रस्तुत किये।

स्वामीजी ने ६ मई से २६ मई तक बम्बई और लोनावला में सत्संग किया। लोनावला में श्री हरिकृष्णदास अग्रवाल, चेयरमेन, देवीदयाल, केबल्स, बम्बई के उद्यम से ज्ञान-साधना शिविर का आयोजन किया गया था। स्वामी आत्मानन्द ने इस उपलक्ष में ८ से १५ मई तक ईशावास्योपनिषद् पर प्रवचन किये और १७ से २६ मई तक उनका सत्संग केनोपनिषद् पर, प्रेम कुटीर, मरीन ड्राइव, बम्बई में होता रहा।

जो जनता की सेवा करना चाहते हैं या जिन्हें सच्चे धार्मिक जीवन के दर्शन करने की आशा है वे विवाहित हों या कुँवारे, उन्हें ब्रह्मचारी का जीवन बिताना चाहिये।

— महात्मा गाँधी

मुद्रक-श्री विश्वेश्वर प्रेस, बुलानाला, वाराणसी।